श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला—ग्रंथांक—१६

चिन्तन : मनन : अनुशीलन
(२)

श्रद्धेय आचार्य श्री गणेशलालजी म. सा.
के
प्रवचनों से संकलित अंश

संपादक
देवकुमार जैन
सिद्धान्ताचार्य, दर्शनशास्त्री, साहित्यरत्न

श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला, बीकानेर
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

प्रकाशक :
मंत्री-श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
रांगड़ी मोहल्ला बीकानेर (राजस्थान)

प्रथम-संस्करण १९७०

मूल्य : एक रुपया

मुद्रक :
जैन आर्ट प्रेस
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालि
रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर

प्रारम्भिक

आज सर्वत्र लक्ष्यहीन वैचारिक, आचारिक स्वच्छन्दता, घबराहट, उदासी और निराशा व्याप्त है। सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति पूछता है— आखिर यह सब क्या है ? ऐसा क्यो हो रहा है ? इसका मतलब क्या है ? क्या इस स्थिति से उबरने का भी कोई उपाय है ?

यदि इस स्थिति का गम्भीरता से विचार करे तो ज्ञात होगा कि जीवन का प्रत्येक पहलू और सस्कृति का आयाम अद्वितीय सकट के दौर से गुजर रहा है। बाह्य कलेवर और आन्तरिक मानस रोगग्रस्त है। निरन्तर विकासमान सत्रास को चीर पाना कठिन हो गया है।

लेकिन मानव जाति निराशा के चरमबिन्दु तक पहुंचने पर भी दिशाबोध को प्राप्त करने के विश्वास से विलग नही होती है। वह इस निष्ठा से भी नही डिगती है कि विकट स्थिति मे मानवोत्तम महापुरुष अपने चिन्तन मनन के आलोक से मार्गदर्शन कराते रहते है।

विश्व-इतिहास मे महापुरुषों की स्थिति विरल है। लेकिन वे किसी क्षेत्रविशेष में सीमित नही किये जा सकते हैं। वे अपनी सृजनात्मक एव व्याख्यात्मक क्रियाशीलता के द्वारा जीवन के हरएक क्षेत्र को प्रभावित करते है। उनकी दूरदर्शी चेतना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे व्याप्त विषमता का स्पर्श करती है। आचार,

विचार, धर्म, शिक्षा, साहित्य, समाज आदि सभी क्षेत्रों मे उनके चिन्तन का योगदान रहता है ।

महापुरुषों का चिन्तन मौलिक होता है । वे अतीत की मूल्यवान उपलब्धियो को अस्वीकार नही करते है और न अपने चिन्तन की तुलना मे उनका मूल्य घटाते है । उनका आत्म-विश्वास दूसरों को महानता की शक्ति प्राप्त कराता है ।

सत्य, अहिसा और प्रेम ये त्रिगुणात्मक तत्व ही जीवन की रचना करते है । उनके अभाव मे ध्वंस का अन्धकार विश्व-जीवन को निगल जायेगा । इस मानव-नियति का साक्षात्कार महापुरुष अपने चिन्तन के असीम विस्तार मे ही नही, अनुभव की अतल गहराई मे भी करते है । इसीलिये अनेक शताब्दियों के उपरान्त भी मानव-जाति अपने इन सत्यशोधकों की ओर देखती रही है और देखती रहेगी । महापुरुषों के सार्वभौमिक व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा उनके सत्य को हृदयंगम करने मे है । सत्य का कोई आकार नहीं होता है, उसे तो प्रत्येक मानव अपने प्राणो मे ही सजोये रहता है ।

प्रस्तुत सकलन मे महापुरुषो की परम्परा के स्व० श्रद्धेय आचार्य श्री गणेशलालजी म. सा. के चिन्तन-मनन-अनुशीलन का समावेश है । यद्यपि सकलित अशो मे उनके चिन्तन की समग्रता समाहित नही है, किन्तु अशमात्र है और उसके द्वारा हमें उनके चिन्तन की पूर्णता की सहजरूपेण अनुभूति हो सकता है ।

संकलन के सकेतो को सही रूप में आत्मसात करने के लिये पाठक प्रवृत्त हों, यही आकाक्षा है ।

—संपादक

महावीर ने कहा

●

महावीर ने दृढ़ता से आह्वान किया—

पुरिसा अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खापमोक्खसि ।

हे पुरुषो ! आत्मा को विषयों (काम–वासनाओं) की ओर जाने से रोको, क्योंकि इसी से तुम दुःख से मुक्ति पा सकोगे ।

जैन दर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है । परिग्रह के ममत्व को काटकर संग्रहवृत्ति का जब त्याग किया जाएगा, तभी कोई पूर्ण अहिंसक और पूर्ण स्वाधीन बन सकता है । स्वाधीनता ही आत्मा का स्वधर्म अथवा निजी स्वरूप है । मोह, मिथ्यात्व एवं अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा अपने मूल-स्वभाव को विस्मृत कर देती है और इसीलिए वह दासता की शृंखलाओं में जकड़ जाती है ।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को बता कर विश्व में फैली बड़े-छोटे, छूत-अछूत, धनी-निर्धन आदि की विषमता एवं भौतिक शक्तियों के मिथ्याभिमान को दूर हटाकर सबको समानता के अधिकार बताये । यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिंसा और त्याग के अनुभवों की गूंज बराबर बनी रही है ।

महावीर ने जो कहा, पहले उसे किया और इसीलिए उनकी वाणी में कर्मठता का ओजस्त्र, भावना का उद्रेक दोनों है। हिंसा के नग्न ताडव से सतप्त एव शोषण व अत्याचार से उत्पीड़ित जनता को दुखों से मुक्त करने के लिए अहिंसा की क्रान्तिकारी तथा सुखकारी आवाज उठाई। स्वार्थोन्मत्त नर-पिशाचों को प्रेम, सहानुभूति, शान्ति एवं सत्याग्रह के द्वारा उन्होंने स्वाधीनता का दिव्य-पथ प्रदर्शित किया।

जिन्हें अपनी आत्मा का गौरव होगा, वे कभी उसे पतित नही होने देगे। चाहे कितनी ही विवशतापूर्ण परिस्थितियां उनके सामने आकर खडी हो जायें। अपनी आत्मा का गौरव बनाइये उसे निभाइये और अपने साथियों के गौरव की रक्षा कीजिये। व्यक्ति से लेकर समूह तक के जीवन-विकास की यही कहानी है।

प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की अन्तिम सीमा तक गति करते ही रहेगे।

गौरवं प्राप्यते दानात्

●

जीवन का गौरव प्रदान करने में है, न कि ग्रहण करके एकत्र कर लेने में। वास्तव में इस प्रदान करने को—

दान कहिये या त्याग—जीवन के विकास का प्रधान कारण समझना चाहिए। प्रकृति के स्वाभाविक वातावरण में ही इस सत्य का स्पष्टतः दर्शन किया जा सकता है—

गौरवं प्राप्यते दानान्नतु वित्तस्य संचयात् ।
स्थिति रुच्चैः पयोदानां पायोधिनामधः स्थितिः ।।

आज के सामाजिक जीवन का भी यही सत्य है। दान हृदय की उदार विशालता को अधिकतम क्षेत्र में प्रसारित करता है। संचयवृत्ति हृदय को अत्यधिक संकुचित बनाती हुई उसे घृणित रूप दे देती है।

अतः जीवन-विकास के क्षेत्र में दान अत्यावश्यक है। जो दान देकर उसके बदले की आशा लगाये रहता है वह एक दृष्टि से वास्तव में दान नहीं करता है बल्कि एक तरह का सौदा करता है। दान के शुद्ध दृष्टिकोण से अर्पित की जाने वाली धनराशि ही सच्चा जन-कल्याण कर सकती है।

अन्त में यही कहना चाहूंगा कि त्याग और दान ही जीवन का विकासक है। दान सरल भी है यदि हृदय में सच्ची भावना व उदारता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने पास से दान हित कुछ-न-कुछ निकाल सकता है। मोक्ष के चार उपाय—दान, शील, तप व भावना बताये हैं। उनमें भी दान को सर्व प्रथम कहा गया है। अतः यदि आप जीवन में प्रगति चाहते है तो अपनी शक्ति गिरे हुए को उठाने में और दुखियों का दर्द दूर करने में लगावें।

महावीर ने जो कहा, पहले उसे किया और इसीलिए उनकी वाणी में कर्मठता का ओजस्व, भावना का उद्रेक दोनों हैं। हिंसा के नग्न ताडव से संतप्त एवं शोषण व अत्याचार से उत्पीड़ित जनता को दुखों से मुक्त करने के लिए अहिंसा की क्रान्तिकारी तथा सुखकारी आवाज उठाई। स्वार्थोन्मत्त नर-पिशाचों को प्रेम, सहानुभूति, शान्ति एवं सत्याग्रह के द्वारा उन्होने स्वाधीनता का दिव्य-पथ प्रदर्शित किया।

जिन्हें अपनी आत्मा का गौरव होगा, वे कभी उसे पतित नही होने देगे। चाहे कितनी ही विवशतापूर्ण परिस्थितियां उनके सामने आकर खडी हो जायें। अपनी आत्मा का गौरव बनाइये उसे निभाइये और अपने साथियों के गौरव की रक्षा कीजिये। व्यक्ति से लेकर समूह तक के जीवन-विकास की यही कहानी है।

प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की अन्तिम सीमा तक गति करते ही रहेगे।

गौरवं प्राप्यते दानात्

●

जीवन का गौरव प्रदान करने में है, न कि ग्रहण करके एकत्र कर लेने में। वास्तव में इस प्रदान करने को–

दान कहिये या त्याग—जीवन के विकास का प्रधान कारण समझना चाहिए। प्रकृति के स्वाभाविक वातावरण में ही इस सत्य का स्पष्टतः दर्शन किया जा सकता है—

गौरवं प्राप्यते दानान्नतु वित्तस्य सचयात् ।
स्थिति रुच्चैः पयोदानां पायोधिनामधः स्थितिः ॥

आज के सामाजिक जीवन का भी यही सत्य है। दान हृदय की उदार विशालता को अधिकतम क्षेत्र में प्रसारित करता है। संचयवृत्ति हृदय को अत्यधिक संकुचित बनाती हुई उसे घृणित रूप दे देती है।

अतः जीवन-विकास के क्षेत्र में दान अत्यावश्यक है। जो दान देकर उसके बदले की आशा लगाये रहता है वह एक दृष्टि से वास्तव में दान नहीं करता है बल्कि एक तरह का सौदा करता है। दान के शुद्ध दृष्टिकोण से अर्पित की जाने वाली धनराशि ही सच्चा जन-कल्याण कर सकती है।

अन्त में यही कहना चाहूंगा कि त्याग और दान ही जीवन का विकासक है। दान सरल भी है यदि हृदय में सच्ची भावना व उदारता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने पास से दान हित कुछ-न-कुछ निकाल सकता है। मोक्ष के चार उपाय—दान, शील, तप व भावना बताये हैं। उनमें भी दान को सर्व प्रथम कहा गया है। अतः यदि आप जीवन में प्रगति चाहते है तो अपनी शक्ति गिरे हुए को उठाने में और दुखियों का दर्द दूर करने में लगावें।

आत्मदर्शन का साधन

●

देह और आत्मा का अभेद समझने की मूढ दृष्टि जब तक विद्यमान रहती है तब तक बहिरात्म दशा बनी रहती है। सर्वप्रथम आत्मा के पृथक अस्तित्व को समझना आवश्यक है। अन्तरात्मा बनने के लिए आपको मानना चाहिए कि देह अलग है और मैं अलग हूं। देह के नाश में मेरा नाश नही है। मैं अविनाशी हूं, अनन्त हूं, अक्षय हूं, अनन्त आनन्द और चैतन्य का आगार हूं।

अन्तरात्म दशा प्राप्त होने पर जीव के विचार और व्यवहार में बड़ा अन्तर आ जाता है। यह नाशशील दुःख के बीज और आत्मा को मलीन बनाने वाले सांसारिक सुख की अभिलाषा नही करता। अन्तरात्मा जीव का विवेक जब परिपक्व होता है तो इसे सांसारिक सुख से अरुचि हो जाती है। तब आत्मा अपने ही स्वरूप में रमण करने लगती है। उस अवस्था को इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं——

वह परम आत्मा अनन्त सुख से सम्पन्न, ज्ञानरूपी अमृत का स्रोत, अनन्तशक्ति से समन्वित है, उसमें किसी प्रकार का विकार नही है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नही है, वह समस्त परपदार्थों के संसर्ग से रहित है और विशुद्ध चैतन्य स्वरूपी है। आत्मा का समर्पण करने से आत्मा की उपलब्धि होती है, उसका स्वरूप अधिकाधिक निर्मल रूप से समझ मे आने लगता है।

महावीर-सन्देश

हे पुरुषो ! आत्मा को विषयों (काम-वासनाओं) की ओर जाने से रोको, क्योंकि इसी से तुम दुःख से मुक्ति पा सकोगे।

समस्त जैनदर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है।

आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है—संपूर्ण भौतिक पदार्थों एवं भौतिक जगत से संबध-विच्छेद करना। अंतिम श्रेणी में शरीर भी उसके लिये एक बेड़ी है, क्योंकि वह अन्य आत्माओं के साथ एकत्व प्राप्त कराने में बाधक है। पूर्ण स्वाधीनता की इच्छा रखने वाला विश्वहित के लिये अपनी देह का भी त्याग कर देता है। वह विश्व के जीवन को ही अपना मानता है, सबके सुख-दुःख में ही स्वयं के सुख-दुःख का अनुभव करता है, व्यापक चेतना में निज की चेतना को संजो देता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि वह अपने व्यष्टि को समष्टि में विलीन कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकारों के लिये रोता नहीं. वह कार्य करना जानता है और कर्तव्यों के कठोर पथ पर कदम बढाता हुआ चलता जाता है। जैसा कि गीता में भी कहा गया है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

फल की कामना से कोई कार्य मत करो। अपना कर्तव्य जानकर करो, तब उस निष्काम कर्म में एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का सम्पूर्ण समाज पर विशुद्ध एवं स्वस्थ प्रभाव पड़ सकेगा। कामनापूर्ण कर्म दूसरों के हृदय में विश्वास पैदा नहीं करता। स्वार्थ छोड़ने से परमार्थ की भावना पैदा होती है, और तभी आत्मिक भाव जागता है।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को बताकर विषमता एवं भौतिक शक्तियों के मिथ्याभिमान को दूर हटा कर सबको समानता के अधिकार बताये। यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिंसा और त्याग के अनुभवों की गूंज बराबर बनी है।

आत्मा से विश्वासघात न करो

●

मानव जीवन की भौतिक शक्तियों के पा लेने में विशेषता नहीं है, पाकर उन्हें निस्पृहभाव से त्याग देने में उसकी परम विशेषता रही है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) में कहा है—

जे य कंते पिये भोए, लद्धे विपट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोए, से हु चाई त्ति वुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थों को प्राप्त करके भी उन्हें आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धन-संग्रह जहाँ दुःख-क्लेश का मूल है, वहां उसी धन को निस्पृहभाव से त्याग करने में महान आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धांत से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल में अपने आपको फंसाकर मानव जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दों में "तिल की खल को पकाने के लिये अमूल्य रत्नों के पात्र का उपयोग करने वाले, आक की खेती के लिये स्वर्ण के हल से धरती को खोदने वाले और कोदरे अन्न के लिये कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान के सभी संयोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर ध्यान न देकर धनलिप्सा व मिथ्या व्यामोहों में फंस जाना अपनी ही आत्मा के साथ भीषण विश्वासघात करना और मानव-जीवन की अनुपम विशिष्टता को व्यर्थ ही में खो देना है।

दुराग्रह को दूर करो

●

मानव जीवन में अनेक प्रकार की दुर्बलतायें देखी । प्रथम तो मनुष्य का अपने विचारों के प्रति

फल की कामना से कोई कार्य मत करो। अपना कर्तव्य जानकर करो, तब उस निष्काम कर्म में एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का सम्पूर्ण समाज पर विशुद्ध एवं स्वस्थ प्रभाव पड़ सकेगा। कामनापूर्ण कर्म दूसरों के हृदय में विश्वास पैदा नहा करता। स्वार्थ छोड़ने से परमार्थ की भावना पैदा होती है, और तभी आत्मिक भाव जागता है।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को बताकर विषमता एवं भौतिक शक्तियों के मिथ्याभिमान को दूर हटा कर सबको समानता के अधिकार बताये। यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिंसा और त्याग के अनुभवों की गूंज बराबर बनी है।

आत्मा से विश्वासघात न करो

●

मानव जीवन की भौतिक शक्तियों के पा लेने में विशेपता नही है, पाकर उन्हें निस्पृहभाव से त्याग देने में उसकी परम विशेषता रही है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) में कहा है—

> जे य कते पिये भोए, लद्धे विपट्ठि कुव्वई।
> साहीण चयई भोऐ, से हु चाई त्ति वुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थों को प्राप्त करके भी उन्हें आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धन-संग्रह जहाँ दुःख-क्लेश का मूल है, वहां उसी धन को निस्पृहभाव से त्याग करने में महान आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धांत से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल में अपने आपको फंसाकर मानव जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दों में "तिल की खल को पकाने के लिये अमूल्य रत्नों के पात्र का उपयोग करने वाले, आक की खेती के लिये स्वर्ण के हल से धरती को खोदने वाले और कोदरे अन्न के लिये कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान के सभी संयोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर ध्यान न देकर धनलिप्सा व मिथ्या व्यामोहों में फंस जाना अपनी ही आत्मा के साथ भीषण विश्वासघात करना और मानव-जीवन की अनुपम विशिष्टता को व्यर्थ ही में खो देना है।

दुराग्रह को दूर करो

●

मानव जीवन में अनेक प्रकार की दुर्बलतायें देखी। प्रथम तो मनुष्य का अपने विचारों के प्रति

स्वभावत: एक विशिष्ट आकर्षण या मोह होता है। उसके कारण वह सत्य का साक्षात्कार करके भी यकायक अपने विचार या मंतव्य में परिवर्तन नहीं कर पाता। दूसरी दुर्बलता है परम्परा के प्रति अन्धश्रद्धा। जब मनुष्य अपने विचार या मन्तव्य को असमीचीन समझ लेता है, तब भी परम्परा से आया हुआ होने के कारण उस विचार को छोड़ नही पाता।

आज अधिकांश जनता इसी प्रकार के दुर्बल विचारों का शिकार हो रही है। जानते है कि अमुक रूढि हानिकर है, वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल नही है और उसके चालू रहने से समाज के बहुत लोगों को कष्ट उठाना पड़ता है, फिर भी उसे त्यागने का साहस नही होता। क्योंकि वह पुरखाओं के जमाने से चली आ रही है। इस प्रकार के लोग अपने विवेक का अपमान करते है। विवेक न होगा तो साधन मिलने पर भी कार्य अच्छा न होगा।

इस तथ्य को सामने रखकर विचार करे।

समता : लक्ष्यप्राप्ति का साधन

●

यह निश्चय है कि जब तक सांसारिक क्षेत्र में ही एक भावनापूर्ण वातावरण की सृष्टि नही होगी, समाज में परस्पर व्यवहार की रीति-नीति समान व सम्यक् नही

बनेगी तो निवृत्ति के मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति भी साधारण रूप से पैदा नही हो सकेगी। इसलिये समाज में समान और सम्यक् वातावरण पैदा हो तथा सामाजिकता की भावना का प्रसार हो, यह निवृत्ति के प्रत्यक्ष लक्ष्य का परोक्ष साधन माना गया है। क्योंकि यह ससार में प्रवृत्ति करने की वात नही वरन् सामाजिक सुधार द्वारा निवृत्ति के लक्ष्य को मस्तिष्क में स्पष्ट कराने का अथक प्रयास है।

जैनसिद्धांतों की जो गति है, वह निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति की है, प्रवृत्ति के लिये प्रवृत्ति की नही। निवृत्ति का प्रसार उसी समाज मे हो सकेगा, जिसमें गुणों और आचरण की पूजा होती होगी। किन्तु जब तक ऐसा स्वस्थ समाज नही बनेगा तो यह भी सभव नही हो सकता कि निवृत्ति का व्यापक प्रचार हो सके। 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' हमारे यहाँ कहा गया है। धर्म का आचरण तभी शुद्ध बन सकेगा जब समाज का व्यवहार शुद्ध होगा और समानता के जो स्रोत जैनसिद्धान्तों के अनुसार बताये गये, वे ही सशक्त साधन है, जिनके आधार पर समाज के व्यवहार का शुद्धिकरण किया जा सकता है।

सजग सामाजिकता आत्म-कल्याण की ज्योति जगाये, यही जैनसिद्धान्तों का संदेश है।

विचार-समन्वय का सुमार्ग

●

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है तथा उसका मस्तिष्क ही उसे प्राणी समाज में उच्च स्थान प्रदान करता है। मनुष्य सोचता है, स्वयं ही और स्वतन्त्रतापूर्वक भी, अतः उसका परिणाम स्पष्ट है कि विचारों की विभिन्न दृष्टियां संसार में जन्म लेती है। एक ही वस्तु के स्वरूप पर भी विभिन्न लोग अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियों से सोचना शुरु करते हैं। किन्तु उसके आगे एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टियों से सोचकर उसके स्वरूप को समन्वित करने की ओर वे नही झुकते। जिससे एक वस्तु को जिस विशिष्ट दृष्टि से सोचा है, वह उसे ही वस्तु का सर्वांग स्वरूप घोषित कर अपना ही महत्त्व प्रदर्शित करना चाहता है। फल यह होता है कि एकान्तिक दृष्टिकोण व हठवादिता का वातावरण मजबूत होने लगता है और वे ही विचार जो सत्यज्ञान की ओर बढा सकते थे, पारस्परिक समन्वय के अभाव में संघर्ष के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

अगर विचारों को जोड़कर देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती है तो वह एकांगी सत्य भी सत्य न रहकर मिथ्या में वदल जायेगा। अतः सत्य को जोड़कर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टि से देखने की कोशिश की जाये।

यही जगत के वैचारिक संघर्ष को मिटाकर उन विचारों को आदर्श सिद्धांतो का जनक वनाने की सुन्दर राह है।

कर्मवाद का अन्तर्रहस्य

●

कर्मबन्धन के प्रधान कारणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मोह, अज्ञान या मिथ्यात्व, यही सबसे बड़े कारण है। क्योंकि इन्ही के कारण रागद्वेष का जन्म होता है व तज्जन्य विविध विकारों से आत्मा कर्म से लिप्त हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में कर्मबन्ध के कारणों पर कहा गया है—

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।"

रागद्वेषात्मक कषाय परिणति से आत्मा कर्मयोग्य पुद्गलों को जब ग्रहण करता है तो वही बन्ध है तथा इसके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बताये गये हैं। यह उल्लेखनीय स्थिति है कि कर्मबन्ध का मुख्य कारण बाहर की क्रियायें उतनी नहीं, जितनी आंतरिक भावनायें मानी गई हैं। क्रियाओं में अनासक्त भाव का प्राबल्य बनाने से विकारों का प्रभाव नहीं पड़ता। शैलेषी नाम की क्रिया में तो अनासक्ति क्या, मन, वचन, काया की प्रवृत्तिया का सम्पूर्ण निरोध ही कर लिया जाता है।

कर्मबन्ध से सर्वथा मुक्त होने के लिए नये आने वाले कर्मो को रोकना पडता है। इस रोकने को संवर तथा जिन स्रोतों से कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहा गया है। आस्रव का विरोध संवर है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र की शक्तियों से आत्मा के विकार—कर्मो को दूर करना चाहिए ताकि आत्मा कर्ममुक्त होकर अपने मूल रूप की ओर गति कर सके।

जैनधर्म का कर्मवाद सिद्धान्त मानव को अपना निज का भाग्य स्वतः ही निर्माण करने की प्रेरणा देने के साथ ही उसे जीवन की ऊंची-नीची परिस्थितियों मे शांति, उत्साह सहनशीलता और कर्मठता का जागरूक पाठ पढाता है। अपने पर छा जाने वाली आपत्तियों के बीच भी वह उन्हें अपना ही कर्मफल समझकर शान्तिपूर्वक सहन करने की क्षमता पैदा करता है तथा उज्जवल भविष्य के निर्माण हित सत्प्रयत्नों में प्रवृत्त हो जाने पर दृढ़ निश्चय कर लेता है। कर्मवाद को मानकर वह पूर्वकृत कर्मो के फल को अपने कर्ज चुकाने की तरह स्वीकार करता है। कर्मवाद के जरिये मनुष्य में स्वावलम्बन व आत्मविश्वास के सुदृढ भाव जाग्रत होते हैं और यह इस सिद्धान्त का सब से बड़ा व्यवहारिक मूल्य है।

कर्मवाद का यही सन्देश है कि जो स्वरूप परमात्मा का है, वही प्रत्येक आत्मा का है, किन्तु उसे प्रगटाने के लिए विजातीय-भौतिक पदार्थों से मोह हटाकर सजातीय आत्मिक शक्तियों को प्रकाशित करना होगा।

परमात्मा आत्मा का परमोत्कृष्ट रूप

●

जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि परमात्म-पद कोई अलग वस्तुस्थिति नही वल्कि उसका स्वरूप आत्मा के ही

परमोत्कृष्ट रूप में जाज्वल्यमान होता है। आत्मा पर लगा हुआ कर्म का कलुष ज्यों-ज्यों धुलता जाये, गुणस्थान की सीढियों पर चढता जाये, तब चरम स्थिति होती है कि वही परमात्म-पद पर पहुंच जाता है। आत्मा से परमात्मा की गतिक्रम रेखा है, एक ही मार्ग के दो सिरे हैं जिनमें कर्म-स्वरूप भेद है, मूलभेद नही। हमारी यह मान्यता नहीं कि ईश्वर इस जगत या जगवर्ती आत्माओं से प्रारम्भ ही में विलग रहा है और उसका जगत की रचना से कोई सम्बन्ध हो। जगत् का क्रम कर्मानुवर्ती माना गया है और उसी आवर्तन में पुद्गल तथा आत्माएं प्रेरित व अनुप्रेरित होते है और चक्कर लगाते रहते हैं। आत्माएं कर्म चक्र में फंसती हैं और धर्म वह आधारशिला है जिस पर चढकर वे इस चक्र से निकलने का पराक्रम भी करती है। इसी पराक्रम की सफलता का अन्तिम बिन्दु परमात्म-पद है।

विकास का मूल सिद्धान्त

मनुष्य स्वयं ही अपने व समाज के भाग्य का निर्माता है—इस तथ्य को जब-जब उससे भुला देने की कोशिश की गई तब-तब मानव समाज में शिथिलता व अकर्मण्यता का वातावरण फैला। किसी अन्य पर अपने निर्माण को आश्रित बनाकर विकास करने का उत्साह मनुष्य मे नही बन पड़ता,

चाहे वैसा आश्रय खुद ईश्वर को ही सौपा गया हो। मनुष्य गतिशील प्राणी है और जहां भी उसे गतिहीन बनाने का प्रयास किया गया कि उसका विकास रुक गया। मनुष्य स्वयं ही पर आश्रित रह सकता है, किसी अन्य पर उसे आश्रित बताकर उसको गतिशील नही बनाया जा सकता है।

जैनदृष्टि के अनुसार आत्मा ही परमात्मा बन जाता है, भक्त स्वय भगवान बन कर दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेता है और आराधक एक दिन आराध्य के रूप में अपने उच्चतम स्वरूप को ग्रहण करता है और जैनधर्म के इस प्रगतिशील विकासवाद का मूलाधार सिद्धांत है कर्मवाद का सिद्धान्त ।

अतः कर्मवाद का सिद्धान्त इस सत्य का प्रतीक है कि प्राणी के लिए कोई भी विकास, चाहे वह चरम विकास के रूप में ईश्वरत्व की प्राप्ति ही क्यों न हो, असंभव नही। वह स्वयं कर्त्ता है और फल भोक्ता हे ।

इस विचारणा के पीछे जो मजवूती है, वह स्वतः प्रेरित फलवाद की धारणा है। अगर फलवाद का कार्य ईश्वर पर छोड़ा जाये, जैसा कि अन्य दर्शन मानते हैं तो वही आश्रित अवस्था पैदा हो जाने पर मनुष्य में से स्वाश्रय का भाव जाता रहेगा और तदुपरान्त प्रगति की ओर वढने की वैसी लक्ष्यसाधित विचारणा उसमें बनी न रह सकेगी ।

जैन दर्शन का तत्त्ववाद

●

जैन शास्त्रों में तत्त्ववाद का बड़ा विशद विवरण है। इस समूचे तत्त्ववाद को नौ भागों में विभक्त किया गया है–

१. जीव २. अजीव. ३. बंध. ४. पाप. ५. पुण्य. ६. आश्रव. ७. संवर. ८. निर्जरा. ९. मोक्ष।

जीव तत्त्व—जो सच्चिदानन्दमय हो। इसमें तीन शब्द मिले हुए हैं— सत्, चित्त और आनन्द। सत् का अर्थ है जो तीनों कालों में स्थायी रहता है। अर्थात् जो पर्याय बदलने की दृष्टि से पैदा हो, नष्ट हो जाये किन्तु द्रव्य रूप से नित्य व शाश्वत रहे वह सत् होता है। चित अर्थात् अपने से ऊपर साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं ही प्रकाशमान होकर दूसरों को भी प्रकाशित करता है। चेतन का तीसरा गुण है आनन्द। हम हैं और हम अनुभव करते हैं, उसका परिणाम जो निकलता है वह आनन्द है।

अजीव तत्त्व—याने जड़ पुद्‌गल का स्वभाव सड़ना, गलना, बदलना और नित्य प्रति इसकी पर्यायें बदलती हैं।

बंध तत्त्व— जीव-अजीव को बांधने वाले तत्त्व का नाम है।

पाप-पुण्य तत्त्व— बंध के फलस्वरूप सामने आते हैं और दोनों अशुभ या शुभ फलदायक होते हैं। इन्ही के कारण आत्मा सांसारिक सुखों या दुखों का अनुभव करता रहता है।

आस्रव तत्त्व—अशुभ लगावट आत्मा के साथ होती है उसे आस्रव तत्त्व कहा है। आस्रव तत्त्व से आत्मा की मलीनता बढ़ती है।

सवर तत्त्व—शुभ योग तथा योग निरोध को संवर कहा है। यद्यपि सवर तत्त्व आत्मोत्थान में सहायक होता है, किन्तु उसी तरह जिस तरह नाव नदी को पार करने में सहायक होती है।

निर्जरा तत्त्व—संलग्न कर्म पुद्गलों से आत्मा को छुड़ाने वाला तत्त्व है। निर्जरा का अर्थ है कर्मक्षय।

मोक्ष तत्त्व—जब आत्मा जड़ की उगावट को पूरे तौर पर खत्म कर देता है और शरीर के अन्तिम बन्धन से जब वह छूट जाता है तो उसकी मुक्ति हो जाती है।

शुद्धि सिद्धिदायनी

पहले हमें यह देखना होगा कि धर्म को हृदय में विराजने के आह्वान के पूर्व उसके धरातल का निर्माण किया गया है या नही ? यदि प्राथमिक हृदय शुद्धि नही की है और धर्म का आह्वान किया तो क्या उसका निवास फिर स्थायी हो सकेगा ? यह सोचने की बात है।

परन्तु साधारणतया देखा जाता है कि अन्त:करण की बिना शुद्धि किये ही धर्माराधन किया जाता है--भगवान धर्मनाथ को हृदय में पधारने का आमंत्रण दिया जाता है। आप ही इस विज्ञान को क्या कहेंगे जो बिना खेत को जोते और कृषि योग्य बनाये ही वर्षा को बुलाने के लिए मल्हार राग गाने के लिए बैठ जायें ?

एक फारसी कवि ने कहा है--

"गैर हकराभी देही दर हीरी में दिलचरा--"

अर्थात्- हे मनुष्य तू अपने हृदयरूपी भवन में परमात्मा के अतिरिक्त किसी को स्थान मत दे और परमात्मा धर्म का प्रतीक है तथा है विश्व में अपने आपको व्याप्त कर अपने मूल स्वभाव की ओर गति करना। किन्तु हृदय के विकारो से मुक्त हुए बिना उसमें धर्म का प्रवेश नही हो पाता।

इतना विश्लेषण इसीलिए किया है कि मनुष्य अपनी प्रगति की राह को पहचान सके और अपनी भूमिका एवं गति को माप-तौल सके। अत: इसका सीधे शब्दों मे यही सार है कि मनुष्य के मूल स्वभाव की ओर बढने में सभी सद्गुणों व सत्कार्यो का समावेश हो जाता है, जहां स्वार्थ वृत्ति की समाप्ति होकर उसके हृदय में सबके लिए उत्कृष्ट आत्मीय प्रेम का मिठास होगा तथा होगी उसकी प्रवृत्तियों मे ससारभर की पवित्र सेवा करने की अटल कर्मठता। तब विश्वानुभूति को हृदय में समाकर वह अपने चरम

विकास--धर्म की मंजिल की ओर उन्मुख हो उधर तेजी से बढ़ने लगेगा ।

विश्वशांति का मूल

ममत्व से जागता है राग और द्वेष । अपनी सम्पत्ति के प्रति राग बढ़े और उसकी रक्षा की जाय और राग जितना गाढा होता जायगा, उस संपत्ति की वृद्धि व रक्षा में वह उचित-अनुचित, कार्य-अकार्य सब कुछ बेहिचक करने लग जायगा । इसके साथ ही दूसरों की संपत्ति से अपने मन में द्वेष जागेगा और उस संपत्ति के प्रति विनाश की बात सोचेगा । इस राग और द्वेष की वृत्तियों के साथ मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, अन्याय की कई बुराइयां मानव मन में प्रवेश करती जायगी तथा इन बुराइयों की फैलावर दुनिया का स्वरूप 'त्राहिमाम्-त्राहिमाम् हो जाता है । उसका अनुभव मैं समझता हूं, वर्तमान व्यवस्था में आपको हो रहा होगा ।

आज के साम्यवाद, समाजवाद अपरिग्रह सिद्धान्त के ही रूपान्तर हैं। यदि अपरिग्रह का क्रियात्मक रूप जैनी भी अपने जीवन में उतारे तो वे अपने जीवन में तो आनंद का अनुभव करेंगे ही--साथ ही सारी दुनियां में एक नई रोशनी, नया आदर्श भी उपस्थित कर सकेंगे, क्योंकि अप-

रिग्रह का सिद्धांत साम्यवाद व समाजवाद के लक्ष्यों की तो पूर्ति कर देगा, किन्तु उनकी बुराइयों को भी चारित्र एवं संयम की आधारशिला पर नागरिकों को खड़ा करके पनपने नहीं देगा।

परिग्रह की परिभाषा

●

परिग्रह की व्याख्या की गई है, "मूर्छा परिग्रहः"। पदार्थों का नाम परिग्रह नहीं, उनमें ममत्व रखकर आत्म-ज्ञान से संज्ञाशून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है। जब जड पदार्थों में वृद्धि बढती है और प्राणी अपनें चेतन तत्व को भूलता है तब उसको परिग्रही कहा। यह ममत्व जब मनुष्य के मनमें जागता है तो आत्मा को कलुषित करने वाले सैकड़ों दुगुर्ण उसमें प्रवेश करने लगते हैं।

इसीलिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रहवाद के सिद्धांत पर विशेष प्रकाश डाला और निवृत्ति प्रधान मार्ग की प्रेरणा दी। उन्होंने साधु व गृहस्थ धर्मों के जो नियम बताये वे इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

साधु के लिये तो उन्होंने परिग्रह का सर्वथा ही निषेध किया, उसे निर्ग्रन्थ कहा। साधु को इसीलिए संयमोपकरण रखते हुए अपरिग्रही कहा है कि उसका उनमें ममत्व नहीं

होता और ममत्व क्यों नही होता कि उन पदार्थो पर वह अपना स्वामित्व नही मानता। वे पदार्थ वह भिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। साधु के लिए तो भगवान ने कहा कि उसको अपने शरीर मे भी ममत्व नही होना चाहिये, इसीलिए जैन साधु का जीवन जितना सादा, जितना कठोर और जितना त्यागमय बतलाया गया है, उसकी समता अन्यत्र कठिनता से देखने मे आयेगी।

भगवान् महावीर ने साधु जीवन को कतई परिग्रह से मुक्त रखा ताकि वे गृहस्थों में फैले परिग्रह के ममत्व को घटाते रहें।

जो तृष्णा के दास हैं

आज के मानव को अपने स्वार्थो को पूरा करने की आशा, आकांक्षा, इच्छा, तृष्णा, वासना या कुछ भी कह लीजिए, इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागलपन आज तक नही देखा गया। उसकी मदान्धता ने सामाजिक जीवन में भीषण उथल-पुथल मचादी है। इसका कारण यह है कि आज की इच्छाओं ने व्यक्तिगत से सामूहिक रूप धारण कर लिया है और इसीलिए पूर्ति के साधनों में भी सामूहिकता का भाव आने से इसकी भीषणता व बर्बरता अधिक बढ गई है। लेकिन यह सामूहिकता व्यापक सामूहिकता

नहीं, किन्तु कुछ शक्ति-सम्पन्नों की सामूहिकता है जो अपने मानवता घातक संगठनों द्वारा अशक्त विशाल जन-समाज का क्रूर शोषण करवाती है।

इस स्थिति का वास्तविक कारण सहज ही में जाना जा सकता है। तृष्णा के पागलपन में मनुष्य अन्धा हो जाता है। तब उसकी जीवन-शांति में अशांति के भीषण अंधड़ आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशांत नही बनाते बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक-पर-एक तृष्णायें उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति में मनुष्य हर बुरे-से-बुरा तरीका काम में लाकर समाज में शोषण, अन्याय, और उत्पीड़न की भयंकर आग जलाता है। यही कारण है कि व्यवहार में धार्मिक चिन्तन एवं क्रियाये करने वाला व्यक्ति आन्तरिक विचारधारा से आशा-पूर्ति के नवीन-नवीन उपायों की खोज करता रहता है।

दरिद्रता का उन्मूलन कैसे ?

आज के मानव को अपने स्वार्थों को पूरा करने की आशा, आकांक्षा इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागल-पन आज तक नहीं देखा गया है। पागलपन में इतना अंधा हो गया है कि उसकी जीवन-शान्ति में अशांति के भीषण अंधड़ आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशांत नहीं

वनाते, बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक-पर-एक तृष्णायें उठती जाती है, जिनकी पूर्ति में मनुष्य हर बुरे-से-बुरा तरीका काम में लाकर समाज में शोषण, अन्याय और उत्पीड़न की भयंकर आग जलाता है।

तृष्णा के इस विषाक्त व्यापक प्रसार के कारण सांसारिक व धार्मिक दोनों क्षेत्रों में दरिद्रता, घर, कर गई है। इस दरिद्रता में आज मानवता पिस रही है और पशुता का नंगा नाच हो रहा है। यह दरिद्रता तृष्णा परित्याग से हटाई जा सकती है। तृष्णा का त्याग करके ही मानव-समाज की आर्थिक व अन्य क्षेत्रीय दरिद्रताओं का विनाश सहज ही में हो सकता है।

शांति का उपाय

●

शान्ति जीवन-विकास के लिये एक प्रमुख आवश्यकता है और जब तक किसी भी प्रकार से हम हमारे हृदय व मस्तिष्क में शान्ति के सचार का प्रयास नही करेंगे, आपत्तियों के तूफान में पड़ कर कभी हम आत्मोन्नति की ओर ध्यान दे ही नही सकेंगे। सच्ची शान्ति के लिए विकृत मनोविकारों का आवरण हटाना होगा, राग-द्वेष, मोहमाया, तृष्णा-स्वार्थ आदि रागात्मक वृत्तियों का त्याग करके हृदय

को अधिकाधिक उदार व विशाल बनाना होगा। जो भी महापुरुष शाँति की परम स्थिति को पहुंचे हैं, उनके स्पष्ट अनुभव है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य निजी स्वार्थों को भूल कर परहित मे अपने स्वार्थों को विसर्जित करता चला जाता है, त्यों-त्यों वह शाँति की मंजिल के समीप पहुंचता है। इसके साथ ही अपने ही स्वार्थ में निरत रहने पर जीवनाकाश को अशांति के बादल ही घेरे रहते हैं। इस रहस्य में आत्मा की मूल प्रवृत्ति का प्रदर्शन हमें मिलता है। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और इसीलिये ऐसे कार्य सम्पादित करने में उसे आनन्द व शांति की प्राप्ति होती है, जो उसके नीचे गिराये रहने वाले भार को हल्का करते हैं। अपने ही दृष्टिकोण से दूसरों के लिये सोचना—यह संकुचित मनोवृत्ति आत्मा को पतन की राह पर नीचे ढकेलने वाली होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्तरिक स्थायी शांति का निवास स्वार्थ-त्याग तथा आत्म-बलिदान में ही रहा हुआ है। पहली श्रेणी है कि अपने निजी स्वार्थों की भावना को खत्म कर दिया जाय और तदन्तर दूसरों के व्यापक हित के लिये अपना हर तरह का बलिदान प्रस्तुत किया जाय। यह बलिदान पथ कठोर अवश्य है, किन्तु बाहरी सुख और आन्तरिक शान्ति का कोई सन्बन्ध नही है। आन्तरिक शान्ति की साधना तो आत्मविसर्जन की भावना के साथ ही सफलतापूर्वक की जा सकती है। आत्मविसर्जन की चरम सीमा पर पहुंचने के साथ ही कैवल्यज्ञान प्राप्त होता है और यही कैवल्यज्ञान परम-शान्ति का मुखद्वार है।

आध्यात्मिक-ज्ञान की आवश्यकता

आत्मा के सम्बन्ध में मनन और चिन्तन करना हमारी जिज्ञासा का चरम बिन्दु है। यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। आत्मा को पहिचानना ही परमात्मपद को उपलब्ध करना है, जहां से संसार के बदलते हुए भावों का अवलोकन किया जा सके। आत्म-स्वरूप को न पहिचानने के कारण ही आज संसार में इतना अज्ञानान्धकार व दुःख छाया हुआ है।

जीवन में नित्य परिवर्तन होते रहते हैं और विचारों एवं भावनाओं में नई क्रांतिया हो जाती है किन्तु यदि हम आत्म-तत्व को गम्भीरतापूर्वक समझने का प्रयास करेंगे तो ज्ञात होगा कि मूलतः जीवन में एक ऐसा केन्द्र-स्थल है, जो शाश्वत, स्थिर और शांत है और जिसे विशाल प्रभंजन, महान् भूकम्प, प्रचड ज्वालामुखी तथा भौतिकयुग के सहारक शस्त्र और बम भी स्पर्श तक नही कर सकते। अशांति का तांडव नर्तन भी आत्म-शान्ति को बाधित नही कर सकता।

आत्म-शक्ति का अन्तर्दर्शन ही व्यक्ति-विकास की कुजी है। आत्मिक-शक्ति को प्रकाशित करने का अपूर्व साधन है— आध्यात्मिकज्ञान। आज के जड़वादी-युग ने इस ज्ञान को लुप्त करने के प्रयास किये है किन्तु भारतीय संस्कृति-पटल से इसे मिटाया नही जा सकता और जिस दिन यह पुनीत स्थिति पूर्ण रूप से हमारे हृदयों से लुप्त हो जायगी, उस दिन एक सास्कृतिक प्रलय आयगा, जो मानवता को क्रूर वर्बरता में परिणित कर देगा। अतः सच्चे विकास के लिए हमें आत्म-स्वरूप को यथार्थ अर्थ में

समझ लेने के बाद आध्यात्मिक-ज्ञान द्वारा उसे प्रगति की पावन मंजिल तक आत्मा को पहुंचाना है।

मनुष्य को अपने स्वरूप को समझकर विवेक रखने की आवश्यकता है। संसार में रहते हुए आध्यात्म-ज्ञान संसार से भागना नही सिखाता। वह तो मानव को अनाशक्तियोग की शिक्षा देता है।

आध्यात्म-ज्ञानी 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त को केवल समझता ही नही, अपितु अपने जीवन में उसका यथाशक्य आचरण करता है। वह समझता है कि वह जैसा व्यवहार दूसरों के प्रति करेगा, यदि वैसा ही व्यवहार उसके प्रति भी किया जाय तो उसकी अनुभूति कैसी होगी तथा उसी विचारणा के अनुसार वह अपनी सारी प्रवृतियाँ निर्धारित करता है।

सम्यक् चारित्र का आचरण करो

जैनागमों में विस्तारपूर्वक चारित्र-चित्रण का व्याख्यान किया गया है। ज्ञान की महत्ता चारित्र्य के साथ ही कही गई है। बिना चारित्र्य के ज्ञानी की उपमा शास्त्रों मे चन्दन के भार को वहन करता हुआ भी गधा जैसे उसकी सुगन्ध को नही समझता, वह तो उसे भार की तरह ही

उठाये फिरता है, उसी तरह आचरणहीन ज्ञान भी भार-रूप ही है। ज्ञान और चारित्र्य के संगम से ही मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय तक पहुंच सकता है। ज्ञान के बिना चारित्र्य अन्धा है और चारित्र्य के बिना ज्ञान लगड़ा, अतः अन्धे और लंगड़े के सहयोग करने से ही दोनों का त्राण हो सकता है। आचरणहीन ज्ञान की तरह ही शास्त्रों में ज्ञानहीन आचरण को भी महत्त्व नही दिया गया है। बिना सम्यक्ज्ञान के की जाने वाली कठोरतम क्रियाएं भी चारित्रिक विकास का कारण नही बन सकती। लोभी व्यक्ति भी अपने धनार्जन के लिए साधु की तरह शीत, ऊष्ण, वर्षा के कष्ट सह सकता है, पर उनका कोई महत्त्व नही। जैसे बिना सुवास के पुष्प का मोल ही क्या? उसी तरह आत्म-भावना बिना तपादिक की क्रियाएं आत्म-विकास में सहायक नही हो सकती। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है कि तपस्यादि आचार का पालन न तो इस लोक में प्रशंसा प्राप्त करने के हेतु करे, न परलोक के सुखों की प्राप्ति के लिए। किन्तु केवल अपने आत्म-विकास के लिए पूर्ण निष्काम भाव से ही करे।

जैन शास्त्रों में ऐसी किसी भी क्रिया का विधान चारित्र्य की श्रेणी मे नही किया गया है, जिससे किसी भी रूप में मानसिक, वाचिक या कायिक हिंसा होती हो।

कई लोग जैनों द्वारा वर्णित चारित्र्य धर्म को सिर्फ निवृत्ति व प्रवृत्ति का ही रूप बताते हैं किन्तु जैन धर्म निवृत्ति व प्रवृत्ति-उभय रूपक है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति का कोई अर्थ ही नहा होता। असत से निवृत्ति करने के

लिए सत् में प्रवृत्ति करनी ही पड़ेगी। जैनागमों में जहाँ बुराई के त्याग का वर्णन है, वही अच्छाई के आचरण का भी। 'कु' को 'सु' में बदल देना ही सच्चा आचरण है। जैन दर्शन में सहजिक योग सुमति का वर्णन है, जिसका अर्थ ही है कि सम्यक् प्रकार से गति करना।

इस तरह के वर्णित आचरण के अनुसार जो अपने जीवन को ढाल लेता है, उस आत्मा का चरम विकास सुनिश्चित बताया गया है। इस सारे आचरण का मूल हमारे यहाँ विनय को कहा गया है— "विणयो धम्मस्स मूलं !"

समय का मूल्यांकन करो

●

समय का समुचित मूल्यांकन ही नियमितता एवं व्यवस्थितता की कुंजी है। जबकि हम देखते हैं कि आज के साधारण जीवन में समय को यथायोग्य महत्त्व नहीं दिया जाता। जीवन का कोई नियमित व्यवस्था-क्रम ही नहीं। पैसे की हाय-हाय ऐसी देखी जाती है कि सुबह से लेकर रात तक घाणी के बैल की तरह जुटे ही रहते हैं तृष्णा के पीछे पागल होकर। उन्हें अपने जीवन में शांति का अनुभव ही नहीं होता और उसका स्पष्ट कारण है कि समय का

सद्विभाजन व सदुपयोग किये विना मानव का मन कभी भी सुखी नहीं बन सकता। इसी दृष्टि से शायद समय के महान् महत्त्व को सुप्रकट करने के लिये महावीर ने निर्देश किया कि--

समयं, गोयम ! मा पमायए..........

हे गौतम ! तू 'समय' मात्र का भी प्रमाद-आलस्य मत कर।

मनुष्य अपने जीवन के क्रमबद्ध विकास की ओर तभी मुड़ सकता है, जबकि उसे अपने जीवन, अपने विचारों व अपनी प्रवृत्तियों को स्वयमेव भलीभांति पहचानने व परखने का मौका मिले और यह तभी हो सकता है कि वह अपने दैनिक कार्यक्रम में कुछ भी निश्चित समय आत्मचिन्तन के लिये निकाल दे। आत्मचिन्तन व आत्मालोचन से अपने जीवन को सुव्यवस्थित बनाने की ओर सुदृढ मनोवृत्ति का निर्माण होता है और यही मनोवृत्ति बुद्धि को सुष्ठु बनाते हुए जीवन के सभी पक्षों को समुन्नत बनाती है।

आनन्द-प्राप्ति कब !

●

मन और इन्द्रियों की गुलामी छूटकर जीवन का क्रम

आत्मा की आंतरिक आवाज का अनुकरण करने लगे तो वह आनन्द वास्तव में विशिष्ट आनन्द होगा और उसी आनन्द की निरन्तर बढ़ती हुई अनुभूति में आत्मा का पावन स्वरूप निखरता जायगा।

जब तक यह आनन्द देश, काल और वस्तु की परिधियों में बन्द रहेगा तब तक वह आनन्द न होकर आनन्दाभास मात्र रहेगा। क्योंकि देश की अपेक्षा में आप सोचते हैं कि ग्रीष्मकाल में नैनीताल या नीलगिरी शीत प्रदेश होने से आनन्ददायक होते हैं किन्तु वे ही प्रदेश शीतकाल में आपको आनन्ददायक नही हो सकते। इसी प्रकार काल और बाह्य का भी हाल है। वह आनन्द एक समय में होगा, एक प्रदेश में होगा अथवा कि एक पदार्थ में होगा किन्तु दूसरे ही समय, प्रदेश या पदार्थ की उपलब्धि होते ही वह नष्ट हो जायगा।

अतः यह आत्मिक आनन्द देश, काल, वस्तु से रहित वर्णादिक भाव शून्य आत्मा में ही निहित है और उसी में रमण करता हुआ आत्मा आनन्द को प्राप्त होता है।

आत्मविस्मृति का कारण

●

आत्मस्वरूप के प्रति अनभिज्ञता का एक प्रधान कारण

यह भी है कि हमारे देश का बहुत बड़ा हिस्सा 'अवतार-वाद' में विश्वास करता है। 'यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत' के सिद्धान्तानुसार संसार को संकटों से उबारने के लिये स्वयं ईश्वर ही भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न रूप मे अवतरित होते हैं और उन्होंने संसार की गति को सत्पथ की ओर मोड़ा। इसके सिवाय वे लोग यह भी विश्वास रखते हैं कि वही ईश्वर सृष्टि का कर्ता भी है तथा उसकी मर्जी के बिना धरती का एक भी कण और पेड़ का एक भी पत्ता नही हिलता। मनोवैज्ञानिक रूप से सोचे तो इस मान्यता के द्वारा साधारण जनता मे आत्मविस्मृति व अकर्मण्यता का भाव फैलता गया। निज की शक्ति के प्रति अविश्वास समाता गया और यह सोचा जाने लगा कि इस विशाल विश्व मे उसका अस्तित्व किसी महत्त्व का धारक नही। इस प्रकार की हीनमान्यता (Inferiority Complex) की भावना ने जनता मे फैलने वाली सजगता व चेतनता का विनाश किया और उसे यह मनाने पर मजबूर किया कि परमात्मा ही सब कुछ है, जो उनकी आत्मशक्तियों से परे एक अलग, विशिष्टतम तथा अनोखी आत्मशक्ति है। किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में इस अन्धवादिता से दूर होने की और यह समझने की आवश्यकता है कि हमारा अपना अस्तित्व हमारे लिये क्या महत्त्व रखता है और उसे किस विकास की तरफ ले जाने से प्रगमनशीलता के क्षेत्र में पूर्णतया प्रस्फुटित हो सकता है?

जैनदर्शन के किसी सिद्धांत में अन्धवादिता व प्रतिक्रियावादिता की बू नही मिलेगी। वह न तो अवतारवाद मे ही विश्वास करता है और न ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व में

ही। वह तो आत्मा की निज की अमित शक्ति पर विश्वास करता है, जिसका चरम विकास ही ईश्वर की प्राप्ति है। जैनदर्शन स्पष्ट कहता आया है कि जीवन का विकास किसी वाह्य शक्ति की प्रेरणा से नहा, अपितु निज में रही हुई शक्ति को पहिचान लेने से होता है। मानव स्वयं अपने जीवन का निर्माता और उसके उत्थान-पतन का उत्तर-दायित्व केवल उसी पर है।

चारित्र निर्माण की बात करते हैं तो.....

●

अपरिग्रहवाद की गहराई में घुसकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वहां व्यक्ति और समाज दोनों को सतुलित करने का विचार किया गया है। समाज में विषमता, शोषण एवं अन्याय की जननी ममत्वबुद्धि है जो दूसरी तरफ व्यक्ति के चारित्र और आध्यात्म को भी नीचे गिराती है। जिस समाजवादी सिद्धान्त की कल्पना की जाती है वह भी क्या है— एक तरह से समाज में सम्पत्ति, धनधान्य एवं उपभोग–परिभोग की वस्तुओं की समान रूप से मर्यादा बांधने की ही तो बात है।

जब साधन-सामग्री का नियमन किया जाये तो निश्चित है कि उसका कम हाथों में संग्रह नही होगा बल्कि

वही संपत्ति और सामग्री अधिकतर हाथों में बिखर जायगी। जीवन निर्वाह के लिये शोषण की आवश्यकता नहीं होती है, वह तो होती है संग्रह के लिये, इसलिये संग्रह ही समाज में सारी बुराइयां पैदा करता है। फलस्वरूप समाज के सभी वर्गों पर इस विषमता का कुप्रभाव होता है, अनैतिकता फैलती है।

जहां हम व्यक्ति का चारित्र उठाना चाहते हैं, उसे नीतिमान व संयमशील बनना चाहते हैं, वहां ममत्व को मर्यादित कर दिया जाय व उसे निरंतर घटाते रहने का क्रम बनाया जाये तो निश्चितरूप से समाज में एक कुटुम्ब का-सा भ्रातृत्व व समता का भाव फैलेगा तथा धर्म के क्षेत्र में निष्काम निवृत्तिवाद का प्रसार होगा, जिसका उपदेश भगवान महावीर ने दिया।

इसकी ओर आप लोगों का ध्यान जाय और उस मार्ग पर चलें तथा इसका प्रकाश सारे संसार में फैलायें यह आज के युग की मांग है।

सर्वोदय के लिये क्या करें ?

●

परमात्मा की जय में संसार के सभी प्राणियों की

जय है, चाहे उन प्राणियों में जैन, हिन्दु, मुस्लिम हो या पूंजीपति, मजदूर हो या मित्र-शत्रु व मानव, पशु हो। इस भावना का नाम ही सर्वोदयवाद है। सब का उदय हो, सब मानवता के रहस्य को समझकर अपनी अन्यान्य-पूर्ण विशेषताओं को छोड़ें और विश्वबन्धुत्व की स्थापना करें, इसी में परमात्मा की जय बोलने का सार रहा हुआ है। आज हम अपनी जय चाहते हैं किन्तु अपने विरोधी शत्रु की जय नहीं चाहते हैं, उसका विनाश देखने की उत्सुकता रखते हैं, यही अज्ञान है और परमात्मा के स्वरूप को वास्तविकता से नहीं समझने का फल है। परमात्मा के स्वरूप को पहचानने वाला सच्चा भक्त अपनी जय नहीं चाहता। वह तो समस्त प्राणियों की जय में ही अपनी जय समझता है। सभी पर उसकी समता भरी दृष्टि होती है।

मेरे कहने का निष्कर्ष यही है कि सर्वोदयवाद के महत्त्व को समझें और परमात्मा की जय बोलने में सब प्राणियों के साथ साम्यदृष्टि को अपनायें। वैभव और शरीर आदि सब नश्वर हैं, एक दिन नष्ट हो जायेंगे और साथ रह जायेगा वही जो कुछ किया है। समाज की संघर्षमय विषमता को मिटाने के लिये शोषण का हमेशा के लिये खात्मा कर दिया जाये। इसके लिये अपनी वासनाओं और आवश्यकताओं को सीमित करना चाहिये और अपने वैभव का अमुक हिस्सा दानादि शुभ कार्यों के लिये निर्धारित किया जाना चाहिये। समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझें, सबसे प्रेम करें, सबकी रक्षा करें, यही सर्वोदयवाद है।

जब तक एक भावनापूर्ण वातावरण की सृष्टि नहीं

होगी तब तक समाज में परस्पर व्यवहार की रीति-नीति समान व सम्यक् नही बनेगी। अतः आज के युग की मांग है कि जैनधर्म के पुनीत सिद्धांतों का आचरण किया जाये। उनके आचरण का अर्थ होगा कि आप समानता के अनुभव को हृदय में जमा लें और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उसका व्यावहारिक प्रयोग करे। मानव के मानवोचित सम्यक् कर्तव्यों का पुज ही तो धर्म है जो समाज में बधुता और ममता की धारा बहाते हुए आत्म-विकास की दिशा में पराक्रमशाली बनाता है।

यही सर्वोदय के विकास का मूलाधार है। इसी ओर लक्ष्य देने और उसके अनुकूल जीवन-व्यवहार करने से सर्वोदय की भावना को सफल बनाया जा सकता है।

जीवन कें केन्द्र-बिन्दु

●

जीवन के आचार-विचार इन तीन केन्द्रबिन्दुओं पर आधारित हैं— अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद। ये तीनों विन्दु जीवन को पूर्ण बनाने वाली सीढ़ियां हैं।

जैनधर्म का हृदय है—अहिंसा। जैनधर्म में अहिंसा का जो स्वरूप-दर्शन तथा निरूपण किया गया है, वह सर्व-

धिक सूक्ष्म है। अहिंसा की आराधना के लिए मन, वचन और काया इन तीनों में एक साथ शुद्धि की आवश्यकता है। इन तीनों में अहिंसा वृत्ति के सहज प्रवेश पर ही अहिंसा धर्म का सुचारु रूप से पालन किया जा सकता है। अहिंसा का साधन वीरों का है। कायर तो सबसे पहले मानसिक हिंसा से ही अधिक पीडित है। ऐसा व्यक्ति मानसिक हिंसा से दूसरों को तो गिरा सके या नहीं, किन्तु अपने आपको तो बहुत गहरे अवश्य ही गिरा डालता है।

परिग्रह की व्याख्या है— मूर्च्छा परिग्रहः। पदार्थों का नाम परिग्रह नहीं, उनमें ममत्व रखकर आत्मज्ञान से शून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है। जब जड़ पदार्थों में वृद्धि बढती है और प्राणी अपने चेतन तत्व को भूलता है, तब उसको परिग्रही कहा है। ममत्व जब मनुष्य के मन में जागता है तो आत्मा को कलुषित करनेवाले सैकड़ों दुर्गुण उसमें प्रवेश करने लगते हैं। शोषण एवं अन्याय की जननी ममत्व बुद्धि है जो दूसरी तरफ व्यक्ति के चरित्र और अध्यात्म को भी नीचे गिराती है।

किसी भी वस्तु या तत्व के सत्य स्वरूप को समझने के लिए हमें स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) सिद्धांत का आश्रय लेना होगा। एक ही वस्तु या तत्व को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और इसीलिए उसमें विभिन्न पक्ष भी हो जाते हैं। अतः उसके सारे पक्षों व दृष्टिकोणों की दृष्टि को समझकर उसकी यथार्थ सत्यता का दर्शन करना इस सिद्धांत के गहन चिन्तन के आधार पर ही संभव हो सकता है।

सत्य का साक्षात्कार जीवन का चरम साध्य है। जीवन उन अनुभवों व विभिन्न प्रयोगों का कर्मस्थल है, जहां हम उनके जरिये सत्य की साधना करते हैं। जीवन के आचार-विचार की सुघड़ता व सत्यता में व्यक्ति, समाज व विश्व की शांति रही हुई है। अतः आज आचार-विचार की उदारता, पवित्रता की प्रेरणा के लिए अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद के सिद्धान्तों को समझने, परखने और अमल में लाने की आवश्यकता है।

मानव जीवन की विशिष्टता का आधार

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणिय जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, सजममिय वीरीय॥

विश्व के समस्त प्राणियों में मानव जीवन का स्थान सर्वोच्च है, इसीलिये शास्त्रकारों ने भी उसे दुर्लभ कह कर पुकारा है। परन्तु यह गम्भीर विचार का प्रश्न है कि मानव जीवन की यह सारी विशिष्टता किस भूमिका पर टिकी हुई है, क्योंकि उसका स्पष्टतः ज्ञान होने पर ही किसी वस्तुस्थिति के मूल से लेकर उसके पूर्ण विकास-क्रम को पहिचाना जा सकता है। जब भूमिका के विषय में ही अस्पष्ट धारणा हो तो तत्सम्बन्धी विकास और उपयोगिता

की पूरी जानकारी नही होगी और जिसका परिणाम हो सकता है—पूर्ण स्वरूप से अनभिज्ञता । मानव जीवन के सम्बन्ध में भी आज कई गलत धारणाएँ प्रचलित हैं, जिससे इस जीवन के अमूल्य होने का भान नही होता एवं उसे उस दृष्टि से सार्थक बनाने के प्रयास नही हो सकते ।

यहां मानव जीवन के सम्बन्ध में उन धारणाओं की मीमांसा की जा रही है, जिनके कारण मानव जन्म पा लेनें पर भी मानवता की प्राप्ति नही होती । मानव का रूप मिल जाना एक बात है किन्तु भावनात्मक दृष्टिकोण से मानवता प्राप्त कर लेना कतई दूसरी बात । मानव में जिन सद्‌गुणों का सद्‌भाव होना चाहिये, यदि वे विकसित नही होते, तो मानव जीवन भी पशुवत् ही है ।

अगर कोई मानव जीवन की विशिष्टता उसके शारीरिक बल में स्थापित करता है तो यह स्वाभाविक प्रतीत नही होगा । क्योकि चिघाड़ते हुए मदमत्त हाथी, वन-प्रदेश को अपनी भीषण गर्जना से कम्पायमान बना देने वाले सिंह और विकराल रूप-धारी अन्य जंगली जन्तुओं के समक्ष बेचारे मानव शरीर का बल ही क्या ?

मनुष्य ने यदि अपने रूप और सौन्दर्य में मानव जीवन की विशेषता मान रखी है तो वह भी व्यर्थ है। रूप आखिर क्या है ? यही तो कि मिट्टी के पुतले पर जो रंग-रोगन किया हुआ है ? जो समयरूपी वर्षा की बौछार लगते ही धुल जाता है । तरुणाई में निखरा हुआ सौन्दर्य चार दिन बाद झुलस जाता है । आज का छलछलाता हुआ रूप कल

प्याला कल जरा-से काल के झोंके से ढुलक जाता है। इसलिये रूप का अभिमान पतन का चिह्न है।

इसके अतिरिक्त परिवार और वैभव से भी मानव जीवन की कोई प्रतिष्ठा नही। रावण के विशाल परिवार एवं स्वर्णिम लकापुरी के वैभव का क्या कहना? और क्या, कोटि यादव एक दिन भारत के भाग्यविधाता नही बने हुए थे? किन्तु क्या सभी विनाश के विशाल गर्भ में विलीन होने से बच गये? नही, ऐसा नहीं हो सका।

जीवन के दो पहलू

●

वास्तव में जीवन एक साधन स्वरूप है, जिसे किसी निश्चित साध्य के पीछे विसर्जित कर देने में ही उसकी विशेषता रही हुई है। यदि साध्य तक पहुंचने में साधन शिथिल व अयोग्य प्रतीत होता है तो साधन के प्रति साधक को सचेत होने की आवश्यकता होती है। जीवन का साध्य मुक्ति है। जो आत्मा का मूल स्वभाव है। आत्मा को विकारों के मल से मुक्त करके उसी परमशुद्धता में स्थायित्व ग्रहण करने का नाम मुक्ति है। मुक्ति साध्य, जीवन साधन और आत्मा साधक है। साध्य गतिशील नही होता, वह तो सुनिश्चित होता है अत उसके प्रति दृष्टि ठहरा

कर साधक को अपने साधन काम में लेने होते हैं। साधक को साधन में परिवर्तन व शुद्धिकरण भी उसी केन्द्रबिन्दु के अनुसार करने होते हैं। अतः हमारे लिये मुक्ति साध्य है, परन्तु उसके साधनों में विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं। इसी बात को लेकर हमारे जीवन की समस्या पर हमें गहराई से सोचना चाहिये और इस सत्य को समझ लेना चाहिये कि हम अपने जीवन को कैसे पथ की ओर अग्रसर करे ताकि हमें अपना मुक्ति का उद्देश्य प्राप्त हो सके।

अध्यात्मवाद का स्पष्ट मत है कि जो निजात्म को पूर्ण रूप से पहिचान लेता है, उसके लिये मुक्ति का मार्ग आसान हो जाता है। अपने आत्मभावों में रमण करने से निज की शक्ति का अनुभव होता है और उस अन्तर्शक्ति की अद्भुत प्रेरणा से उसमें ऐसा साहस केन्द्रित हो जाता है, ऐसा ज्ञान और क्रिया का सम्मिलन हो जाता है कि फिर उसके मार्ग की वाधाएं नष्टप्रायः हो जाती है। आत्म-रामी होने से अपने जीवन का उत्थान मार्ग तो शोधा ही जाता है परन्तु उसके साथ ही आत्मशक्ति और उसके संचालन का ऐसा दृढ अनुभव होता है कि जिसके द्वारा अन्य आत्माओं के मनोभावों और प्रवृत्तियों को समझने का ज्ञान उत्पन्न होता है। अनुभव ही यथार्थतः किसी भी क्षेत्र की गहराई को पहचानने की कसौटी का काम करता है और इसी तरह आत्मसाधना की परिपक्कता के फल-स्वरूप आत्मा आत्मरामी से अन्तरयामी वन जाता है।

पुरुषार्थ करो !

☉

पापपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की बुनियाद में यह भावना काम कर रही है कि पुरुषार्थ और श्रम न किया जाय। प्रायः हर व्यक्ति यह चाहता है कि वह व्यापार, नौकरी या सट्टा आदि ऐसा व्यवसाय पकड़ ले कि मेहनत तो कम-से-कम करनी पड़े और लाभ अधिक-से-अधिक पैदा हो सके। जब मनुष्य श्रम से दूर भागता है तो उसमें दूसरे की वस्तु छीनने की भावना होती है, क्योंकि आवश्यकताओं को तो वह दबाता नहीं, बल्कि किन्हीं अंशों में बढ़ाता है और वैसी स्थिति में शोषण और मुनाफा वृत्ति की नींव जमती है।

विकास की राह पर आगे बढ़ने का यह विशिष्ठ उपाय है कि आप लोग स्वावलम्बी बनें, स्वावलम्बन द्वारा अपने ही पैरों पर खड़े होवें। तभी आपको दूसरों का सम्मान भी प्राप्त हो सकता है। ऊपर की चटक-मटक और बाहर के आडम्बर से किसी को क्षण भर के लिए धोखा देकर अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक सरलता व श्रम की भावना के बिना ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर की तरह किसी के हृदय को स्थायी रूप से प्रभावित नही किया जा सकता। आडम्बर टिक नही सकते, उन्हें स्वप्नों के समान नष्ट होना पड़ता है। यह तो अपने जीवन के प्रति गहराई से सोचने और समझने की बात है। जो पुरुपार्थी नही, उन्हे समाज भले ही क्षण भर के लिए अपनाता दीखे, किन्तु अन्ततोगत्वा वे सब बुरी तरह फेक दिये जाते है।

आलसी आदमी ही नाना प्रकार के बहाने बनाते हैं और नाना तरह की युक्तियां देकर अपनी आदतों की पुष्टि करते हैं। 'भाग्य मे जो होगा, वही होगा' यह भी आलस्य की ही मूल भावना है। भाग्य भी तो मनुष्य का ही बनाया हुआ होता है और इसलिए मनुष्य उसे बदल भी सकता है। जीवन के ह्रास और विकास में भाग्य मुख्य नही हैं, पुरुषार्थ और श्रम प्रधान कारण है। परिश्रम से दूर भागने वाले अधिकतर भाग्य की दुहाई देकर अपनी आलस्यवृत्ति को छिपाना चाहते हैं। साहस के साथ आगे बढ़ने वाले भाग्य को नही देखते, वे तो एकमात्र कर्त्तव्य पर अपना अधिकार समझते हैं और कर्त्तव्य की एक-निष्ठा तथा पुरुषार्थी प्रतिभा से भाग्य के बहाव को भी मोड़ देते है। भाग्य और पुरुषार्थ की टक्कर में पुरुषार्थ की ही विजय होती है।

आलस्य दुःख और पौरुष सुख

मैं कई वार सोचता हूं और इस निर्णय पर पहुंचता हूं कि मनुष्यों का जीवन स्वावलम्वी वनें और वे पुरुषार्थ से अपना जीवन निर्वाह करने में स्वतन्त्र हों, तब ही वे सही रूप में धर्म का पालन कर सकते हैं और साधु भी अपनी साधना में शुद्धि बढ़ाये रख सकते हैं।

सभी खराबियों व बुराइयों का मूल आलस्य है। पुरुषार्थ करने की शक्ति होते हुए भी जो आलस्य में माग खाते हैं, उनकी भिक्षा पौरुषहरि भिक्षा है। आज मैं आपसे प्रश्न करूं कि भारत के लोग इतने आस्तिक है, फिर भी इतने दुखी क्यों है ? इसकी तह में उतरें तो यही पायेगे कि दूसरों के पसीने पर गुलछर्रे उड़ाने की भावना ने घर कर लिया है, पर यह सबसे बड़ा पाप है। दुनियां में सभी पापों की जड़ आलस्य है, अधिकांश चोरियां, लड़ाइयां व अन्य अनैतिकता के कार्य भी इसी आलस्य के कारण ही होते हैं।

जिस तरह मस्तिष्क की मशक्कत के लिये ज्ञान व विचार की आवश्यकता है, उसी तरह शरीर-स्वास्थ्य के लिए शारीरिक श्रम भी जरूरी है। शरीर-श्रम के बिना मस्तिष्क की गति भी सुस्थिर नही रह सकती। इस तरह शरीर-श्रम की सबके लिए अनिवार्यता समाज में एक महत्त्व-पूर्ण स्थिति है। जैसे शरीर में रक्त संचरण बंद हो जाये तो लकवा होता है या हार्टफेल, उसी तरह सबके शारीरिक श्रम न करने से समाज में भी एक तरह का पंगुपन पैदा होने लगता है।

आलसी आदमी ही नाना प्रकार के बहाने बनाते हैं और नाना तरह की युक्तियां देकर अपनी आदतों की पुष्टि करते हैं। 'भाग्य में जो होगा वही होगा'—यह भी आलस्य की ही मूल भावना है। भाग्य भी तो मनुष्य का ही बनाया हुआ होता है और इसलिए मनुष्य उसे बदल भी सकता है। जीवन के ह्रास और विकास में भाग्य मुख्य नही है, पुरु-

षार्थ और श्रम प्रधान कारण है।

अत: मैं फिर दोहराऊंगा कि समाज व धर्म के सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने व सुखी बनने का यह सीधा मार्ग है कि प्रत्येक व्यक्ति पुरुषार्थी बने। सत्पुरुषार्थ वृत्ति जीवन विकास की निश्चित सीढ़ी है।

वर्तमान विश्व की एक झलक

●

कर्मण्यता की भूमिका पर ही व्यक्ति, समाज व राष्ट्र का उत्थान सम्पादित किया जा सकता है। वैभव और विलास तो पतन के कारण बनते है क्योंकि विलासिता का दूसरा नाम निकम्मापन भी है। विलासी कायर होता है, वह विपदाओं से लड़ नहीं सकता और अपनी हीन आसक्तियों से ऊपर नहीं उठ सकता।

क्रोधरूपी काली नाग अपने तीव्र विषदन्त से सरल प्राणियों में कटुता भर रहा है व संसार में अनेक अनर्थ करवा रहा है। तृष्णा रूपी पूतना राक्षसी दूध पिला कर आत्मबल को जैसे मार देना चाहती है। लोग संयम, नियम, नीति से विमुख होकर ऐश्वर्य बढ़ाने की प्रतिद्वन्द्विता में लगे हैं। भ्रष्टाचार की महामारी-सी फैली हुई है।

अभिमान रूपी कंस सारे विश्व को ग्रस रहा है। लोग धन या सत्ता बल पा जाने पर अपने आपको भूल स्वेच्छाचारिता की ओर मुड़ जाते है एवं निर्बलों के अधिकारों को हड़पने व उनका शोषण करने में आनन्दानुभव करते हैं। मोहरूपी जरासंध आज अन्याय का कारणभूत हो रहा है क्योंकि मोह से मनुष्य को एकास्त बुद्धि हो जाती है और वह सत्यासत्य के सद्विवेक से विमुख होता चला जाता है। लोभरूपी दुर्योधन साधनों को केन्द्रीभूत कर सच्चे हकदारों को भी 'सुई की नोक के बराबर भूमि' देने को तैयार नही। लोभ को शास्त्रों में काल कहा है और यह पाप का बाप भी कहा जाता है क्योंकि इसी के वशीभूत होकर मनुष्य अत्यधिक स्वार्थी और हीनस्वभावी हो जाता है।

आज ये सारी कुटिल मनोवृत्तियाँ खुलकर खेलती हुई देखी जाती हैं और ऐसे जटिल समय में सत्य स्वरूप हृदय में जगाया जाय और उन कुविचारों एवं असद् प्रवृत्तियां पर विजय प्राप्त करने की अमिट शक्ति पैदा की जाय। जीवन के इस विशाल क्षेत्र में सद्कर्म करते जाइये, निरपेक्ष और निःस्वार्थ होकर तो लौकिक व आत्मिक उत्थानों की मजिल दूर नही रहेगी। इसी सन्देश को आज के दिन सब को सुनना और समझना चाहिये तभी किसी प्रकार की सार्थकता हो सकती है।

आज की आवश्यकता

यह दुःख का विषय है कि देश में त्याग की भावना का ह्रास होता जा रहा है। छोड़ देने की भावना के बजाय ले लेने की भावना का अधिक प्रसार होता हुआ देखा जा रहा है। स्वार्थ का महादैत्य लोगों के हृदयों पर छा गया है और इसीलिये त्याग नही, भोग की भावना प्रबल बन रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ऐसी विकृत अवस्था बनती जा रही है, जिसे सुधारे बिना भारतीय संस्कृति की गौरवान्वित परम्परा का निर्वाह नही किया जा सकेगा।

आज चारों ओर देखने से जैसे ऐसा लगता है कि कर्त्तव्य की वृत्ति लुप्त हो रही है और अधिकारों की लोलुपता बढ़ रही है। परन्तु यह सोचने की बात है कि कर्त्तव्यों की नैतिक भूमिका पर ही अधिकारों का जन्म होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि धोखा देने वाले 'बकवास' बहुत बढ गये हैं। नेता भी वक्तव्यों पर वक्तव्य देते हैं, योजनाओं के कागजी घोड़े दौड़ाते हैं और देश के महान विकास का स्वप्न दिखाते हैं। लेकिन समझ में नहीं आता कि जब त्याग का अभाव हो रहा है तो किसके संयम और नैतिकता के बल पर देश का विकास हो सकेगा ?

इधर जनता भी अधिकार मांगती है, अपने कर्त्तव्यों की ओर नही निहारना चाहती। कर्त्तव्यों ही से अधिकार की प्राप्ति होती है और वे अधिकार नागरिक के हों अथवा शासक के ? क्योंकि कर्त्तव्यों का तात्पर्य भी एक दृष्टि से

दूसरों की सुख-सुविधा के लिये अपना त्याग करना है— सबके समान सुख के लिये अपनें आपको सबमें त्यागमय बना देना है। जब कोई दूसरा एक नागरिक के लिए त्याग करता है, तो वही उसका अधिकार हो जाता है। एक का कर्त्तव्य दूसरे का अधिकार होता है। मूल वस्तु तो कर्त्तव्य है— त्याग है, जिसके आधार पर सार्वजनिक सुख व कल्याण की भित्ति चिरस्थायी रह सकती है।

आज के मानव के पीछे स्वार्थ का महादैत्य इस बुरी कदर पड़ा है कि उसे अपनें कर्त्तव्यों का भान नहीं रहता। उसे तो भान होता है अपनी स्वार्थपूर्ति का—फिर भले ही उसमें किसी का कितना ही नुकसान क्यों न होता हो ? यही नहीं, गुरुदेव से आशीर्वाद मांगा जाता है, परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि वे उसे सुखी बनावें किन्तु आप विचार करें कि वह सुख कैसा हो ? क्या आज का मानव अधिकांशतः वैसे सुख की कल्पना नहीं करता, जिसकी रचना दूसरों के शोषण के आधार पर निर्मित होती हो ? और अगर ऐसा है तो वर्तमान मानव के मानस का यह नग्न अन्तर्चित्र बदलना होगा—उसमें आत्मविकास की प्रकाश-रेखाएं खींचनी होंगी।

आज उस महान् आदर्श को भुलाया जा रहा है कि अपना सब कुछ निछावर करके भी दूसरों की सहायता करो। यही कर्त्तव्य है, यह भी त्याग है और यह भी धर्म है।

युग की मांग है

●

जगत का प्रत्येक प्राणी अपने जन्म से किन्ही आशाओं, इच्छाओं न वासनाओं को पालता-पोसता है तथा जीवन भर उनकी पूर्ति-हित संघर्ष करता रहता है। मनुष्य इसके पागलपन में अन्धा हो जाता है। तब उसकी जीवन-शांति में अशांति के भीषण अन्धड़ आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशांत नहीं बनाते बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक-पर-एक तृष्णायें उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति में मनुष्य हर बुरा-से-बुरा तरीका काम में लाकर समाज में शोषण, अन्याय और उत्पीड़न की भयंकर आग जलाता है।

तृष्णा के इस विषाक्त व्यापक प्रसार के कारण दरिद्रता घर कर गई है। इस दरिद्रता में आज मानवता पिस रही है और पशुता का नंगा नाच हो रहा है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ेगा कि इस दरिद्रता व दुःख का मूल कारण तृष्णा ही है, जिसकी गुलामी आत्म-हित व पर-हित घातक है। किन्तु इसके विपरीत तृष्णा को जो अपनी दासी बना लेता है, संसार उसका दास हो जाता है।

स्वेच्छापूर्वक तृष्णा का त्याग करके सादगी को अपनाने वाला ही महापराक्रमी होता है। प्राप्त साधनों का व्यापक लोकहित के लिये परित्याग कर देने में ही त्याग की वास्तविक महत्ता रही हुई है। आज विश्व को भौतिकवादी क्रूरता से मुक्त होने के लिये तृष्णा-त्याग, मानव-प्रेम

और विश्व-बन्धुत्व की आवश्यकता है, जो मानव-समाज में समता व बन्धुता का वातावरण प्रसारित कर सके।

यह करना ही होगा

आज मनुष्य को अपने दुःख और पतन के कारण ढूंढने ही होंगे, क्योंकि अपने हिताहित से भान रहने की भी एक सीमा होती है और उससे आगे निकल जाने पर तो पतन से निकल आने की सभी सम्भावनायें शिथिल हो जाती हैं। आज संसार की गति भी तेजी से उसी सीमा के समीप सरकती जा रही है और यदि इस समय सम्यक् चेतना और सजगता का प्रसार नहीं किया गया तो संसार महापुरुषों की प्रदत्त विचार-निधि को खोकर असभ्यता और असंस्कृति के अन्धकार में भटकता ही रह जायेगा।

आज चारों ओर देखने से जैसे लगता है कि कर्त्तव्य की वृत्ति लुप्त हो रही है और अधिकारों की लोलुपता बढ़ रही है। परन्तु यह सोचने की बात है कि कर्तव्यों की नैतिक भूमिका पर ही अधिकारों का जन्म होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धोखा देने वाले बकवास बहुत बढ़ गये हैं, नेता भी वक्तव्यों पर वक्तव्य देते हैं।

आज के मानव के पीछे स्वार्थ का महादैत्य इस बुरी कदर पड़ा है कि उसे अपने कर्त्तव्यों का भान नहीं रहता, उसे तो भान होता है अपनी स्वार्थपूर्ति का–फिर भले ही कितना ही नुकसान क्यों न होता हो ?

समाज का तथ्यात्मक वातावरण पुकार–पुकार कर कहता है कि आज अपने जीवन में त्याग का सर्वोदय करने की आवश्यकता है ताकि स्वार्थों का भीषण अन्धकार कट जाये। आज न तो सिर्फ बाह्य वेश-रूप त्याग का ढोंग या पाखण्ड चलेगा और न त्याग को किसी सीमित दायरे में वंद रखा जा सकेगा, उसे तो सब ओर प्रसारित्त कर देना है।

जहाँ सुमति .....

विश्व की समस्त समस्याओं का, चाहे वे किसी भी क्षेत्र की हों, मूलतः एक ही हल है और वह है बौद्धिक तथा नैतिक। राजनीतिक व आर्थिक समस्याएं समाज-विकास में बाधक अवश्य बन सकती हैं, किन्तु बौद्धिक परि-पक्कता व नैतिक सहृदयता के अभाव में उक्त समस्याओं का हल भी समाज में सच्चे सुख व स्थायी शान्ति की सृष्टि नहीं कर सकता। पूर्ण स्वतन्त्रता एक २ व्यक्ति के अपने कर्त्तव्य व अधिकारों के प्रति विवेकपूर्ण ढग से सजग होने

मे ही उपलब्ध हो सकती है। जब तक बुद्धि का अभाव व उसकी विकृति का अस्तित्व रहेगा, समाज में शोषण, उत्पीड़न तथा अन्याय की समाप्ति असम्भव है।

सम्पत्ति की प्राप्ति सुमति पर निर्भर है। वह सम्पत्ति चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, लेकिन दोनों की प्राप्ति का उद्देश्य बनाने से पहिले यह सोच लेना चाहिये कि अगर सुबुद्धि से–विवेक से काम नही लिया गया तो आध्यात्मिक सम्पत्ति तो मिल ही नहीं सकती और एक बार भौतिक सम्पत्ति घातक तरीकों से मिल भी गई तो वह टिक नहीं सकती एवं बड़े बुरे परिणाम दिखाकर खत्म हो जायगी।

आज चारों ओर दिखाई देता है कि अधिकतर सम्पत्ति प्राप्ति (भौतिक) की दौड़ लगी हुई है, किन्तु पहले सुमति प्राप्त हो––इसकी ओर बहुसंख्यकजनों का लक्ष्य नही है। बल्कि सम्पत्ति प्राप्ति में कुमति से ही अधिक काम लिया जाता है और उसका परिणाम आज समाज में फैली अनैतिकता, असमानता व अव्यवस्था में देखा जा सकता है। जो सम्पत्ति कुमति से प्राप्त की जाती है, वह कभी भी शान्तिदायक नही हो सकती, वरन् वह तो अन्त में कभी-कभी विनाश का कारण हो जाती है।

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूं कि सारे संसार की आधारगत समस्या बौद्धिक व नैतिक है, सुमति संपादन में ससार का विकास समाया हुआ है। मति बौद्धिकता की ओर इन्गित करती है तथा उसके पहले लगा हुआ 'सु'

नैतिकता को सम्मिश्रित करता है अतः 'सुमति' यह मूल समस्या है और यदि हमको हमारा निज का भविष्य और समाज का भविष्य उन्नत व आदर्श बनाना है तो हमें सुमति-सम्पादन करने में लग जाना चाहिये ताकि इस कलियुग के स्थान पर सतयुग का निर्माण किया जा सके।

सुमति-प्राप्ति का सरल साधन

विकास की मूल आधारशिला सुमति-श्रेष्ठ बुद्धि पर टिकी हुई है तथा प्रयोजन का निर्धारण व निर्णय सदैव बुद्धि की भूमिका पर ही होता है। इसलिये अगर बुद्धि 'सु' हुई तो वह गति को विकास-पथ की ओर मोड़ देगी तथा बुद्धि की मलीनता व कुत्सितता जीवन को पतन के गड्ढे की ओर ढकेलती है। इस दृष्टिबिन्दु से सुमति जीवन की प्रगति की प्रमुख साधिका होती है।

अब यह देखना जरूरी है कि ध्येय की तरफ अग्रसर कराने वाली 'सुमति' की प्राप्ति कैसे हो सकेगी ?

भंवरा सदैव फूलों की सुवास की ओर ही मुड़ता है, वैसी ही तन्मयता सुमति प्राप्त करने के लिये आवश्यक है। परन्तु ऐसी तन्मयता नियमित एवं व्यवस्थित जीवन-क्रम से ही प्राप्त हो सकती है।

नियमितता का मूल-मन्त्र है कि प्रत्येक कार्य को यथा-समय सम्पन्न कर लिया जाय। अगर इस कथन को र्णतया हृदयंगम कर लिया जाय तो दिशासूचक यन्त्र की सूई की तरह जीवन के कठिन क्षणों में भी अपने लक्ष्य के प्रति सफल संकेत करता रहेगा।

नियमित व व्यवस्थित जीवन का यह अवश्यंभावी प्रभाव होता है कि विकास का प्रवाह सुयोग्य विचारों के साथ स्वयंमेव ही फूट पड़ता है। किन्तु इस स्थिति के अभाव ने आज चारों ओर विकृति की काली छाया फैला रखी है।

समय का सर्वोत्तम उपयोग करने वाला व्यक्ति ही अपनी सच्ची प्रगति साध सकता है।

तात्पर्य यह है कि जीवन को नियमित व व्यवस्थित रखने वाला व्यक्ति विकास की तरफ आगे-आगे कदम बढ़ाता रहता है।

इसलिए मैं यही कहना चाहूंगा कि आप समय को व्यर्थ में न गुमावें तथा उसे अपने जीवन को नियमित व व्यवस्थित करने में लगावें ताकि आप अपने अन्तर का सम्यक् अवलोकन कर सके।

यह कभी न भूलें

●

संसार के वर्तमान गतिक्रम पर नजर डाली जाय तो दिखाई देता है कि किन्हीं अंशों में आज कंस की वृत्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। सांसारिक वैभव को प्राप्त करने की कुटिल होड-सी लगी हुई है, जिसमें अपनी प्रवृत्तियों के न्याय-अन्याय का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। यह सोचना कर्त्तव्य की सीमा के अन्दर ही नहीं समझा जा रहा है कि जो कुछ अर्जन व प्राप्त किया जाता है, काश, वह न्याय से उपलब्ध हुआ है या अन्याय से ? इसी का फल है कि भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी आदि अनेक असामाजिक प्रवृत्तियां समाज व देश के नैतिक स्तर को निरन्तर नीचे गिरा रही । पिता-पुत्र और भाई-भाई तक इस दौड़धूप में अपने कर्त्तव्यों को भूल रहे हैं, तो अपने करोड़ों राष्ट्रबन्धुओं के हितों की ओर ध्यान देना तो कठिन प्रतीत हो ही सकता है।

आज यह देखने की जरूरत है कि भोग-पिपासा की क्रूर अन्धता में संसार के निर्बल एवं असहाय प्राणी पिसे जा रहे हैं। जिस प्रकार कंस ने अपनी शक्ति का उपयोग पिता की सेवा व जनता की रक्षा में न करके सिर्फ अपने स्वार्थों व अहं की पूर्ति में किया, उसी तरह आज भी समाज के अधिकतर लोग व्यवहार करते व उसी में सुखानुभव समझते देखे जाते हैं। फलस्वरूप चारों ओर शोषण एवं उत्पीड़न के कारण त्राहि-त्राहि-सी मची हुई है।

इस अवसर पर यह तथ्य मनन किया जाना चाहिये

कि अन्यायोपार्जित वैभव स्थायी रहने वाला नही है। जब तक आपका पुण्य फलोदय शेष हैं, आप कुछ करें-- उसके दुष्परिणाम आपके सामने नही आते हैं किन्तु इससे यह समझने का प्रयास करना उचित नहीं कहा जा सकता कि आपकी सारी प्रवृत्तियां न्यायानुकूल है। प्रकृति में विलम्ब हो आता है किन्तु उसके नियम का क्रम नहीं टूटता और तो क्या, चक्रवर्ती, वासुदेव जैसे भी महान् वैभवशाली पुरुष हुए परन्तु उनका वैभव भी यहीं धरा रह गया। मोहम्मद गजनवी ने सत्रह बार भारत भूमि को पदाक्रांत किया व अगणित वैभव लूटा, किन्तु मरते समय तो वही "सब ठाठ पडा रह जायगा, जब लाद चलेगा वनजारा" हुआ। कोई भी उसे मृत्यु से न छुड़ा सका। वैभव की भूख आखिर जाकर पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसा डालती है। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि निज के समाज के नैतिक स्तर को ऊपर उठाकर जीवन का सत्य-साधनों से सर्वोच्च विकास करने का सत्प्रयास किया जाय।

प्रार्थना की शक्ति

●

प्रार्थना एक परम पवित्र दैनिक अनुष्ठान है और सभी आध्यत्मिक नेताओं ने इसके महत्त्व को स्पष्ट किया है तथा इसके आचरण पर जोर दिया है।

प्रार्थना में एक ऐसी विशिष्ट शक्ति है जो हमें श्रद्धाशील वना देती है। उन महान् आत्माओं के गुण-गानों से जिन्होंने उत्कृष्टतम शुद्धावस्था रूप परमात्मपद को प्राप्त कर ईश्वरत्व धारण कर लिया है और जो सांसारिकता से सर्वथा विमुक्त होकर निजानन्द में तल्लीन हो गये हैं, प्रभावित होकर हम भी हमारे जीवन के लिये उसी लक्ष्य तक पहुंचने की जो आदर्श कामना करते हैं, उसी अपने आत्मा के प्रति की गई याचना का नाम ही प्रार्थना है। साधारण मनुष्यों की बुद्धि इतनी सूक्ष्म नहीं होती है कि योगी की तरह केवल शास्त्रों में वर्णित रहस्यपूर्ण जटिल सिद्धांतों को समझ कर उनके आधार पर ही अपने विकास का मार्ग शोध निकालें। अतः प्रार्थना इसलिए करनी चाहिए और वह भी उसकी दैनिक आदत होनी चाहिये कि उन विशिष्ट विभूतियों का जीवन-स्वरूप अर्थात् उनके आत्म-विकास का मार्ग हमारे मस्तिष्क पटल में स्पष्ट तौर पर अंकित हो जावे। यही जीवन-सत्य प्रार्थना हमारे समक्ष प्रकट करनी है।

श्रद्धा और बुद्धि की प्राप्ति हित हम परमात्मा की प्रार्थना करते हैं, किन्तु आत्मा से कहा गया है कि, हे आत्मा ! तव तक तू अर्जुन की तरह एकाग्र होकर लक्ष्य व लक्षी के सिवाय सभी वस्तुओं को अपनी दृष्टि से हटा नही लेगा, तव तक निजत्व का उद्धार व पूर्ण विकास करना अवश्य ही दुष्कर रहेगा।

अतः सत्य अर्थ में अगर देखा जाय तो परमात्मा की जो प्रार्थना करना है, वह केवल अपने आत्मा 'सोऽहं'

की ही सजग साधना करना है।

अब हम सीधे अपने मूल विषय पर आते हैं कि आन्तरिक निर्माण के लिये जो हमारी चेतना में अटूट जागृति पैदा होनी चाहिये और अपार शक्ति का श्रोत फूट पड़ना चाहिये, वह प्रार्थना के बिना नहीं हो सकता।

सन्त तो इनको कहते हैं

●

सन्त कैसा होना चाहिये ? इसका उत्तर श्री आनंद-घन जी के शब्दों में यह है—

परिचय पातक घातक साधशुं रे, अकुशल अपचय चेत।

सन्त वह है जो पातक का घातक हो, आत्मा के समस्त पापों को जिसने धो डाला हो। ऐसे सन्त अपने वचन और व्यवहार से दूसरे के पापों का भी नाश कर देता है।

जो आस्रव से निवृत्त हो गया है, अर्थात् जिसने पापों के आगमन के छिद्रों को रुद्ध कर दिया है, जो छल-कपट, दंभ आदि पापों से दूर रहता है, जो एकेन्द्रिय प्राणी के वध में भी आत्मवध मानता है और आत्मा के प्रति अत्यन्त

श्रद्धावान है, जो सृष्टि के समस्त प्राणियों को मित्रभाव से देखता है, लाभ-अलाभ में समभाव रखता है, जो अनासक्ति का मूर्तिमान आदर्श है, सब प्रकार के सांसारिक प्रपंचों से पर और देहाध्यास से भी अतीत है, जो आत्मरमण में ही परमाह्लाद की अनुभूति करता है और जिसके लिये सन्मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, वंदना,तर्जना एक रूप हो गये है, वह सच्चा सन्त है।

वह आकाश की तरह उदार, भूतल की तरह क्षमा-शील, चन्द्र की भांति सौम्य, सूर्य की भांति तपस्तेज से दीप्त, अग्नि के समान जगत की अपावनता को भस्म करने वाला और वायु की भांति सतत परिव्रजनशील होता है। उसकी अमृतमयी एक ही दृष्टि भव्य मनुष्य के अन्तर् में व्याप्त वासना विष को नष्ट कर देती है।

ऐसा सन्त अपनी कलुषता का विनाश तो करता ही है, अपनी संगति में आने वाले जिज्ञासु साधकों के भी पापों का अन्त कर देता है।

संसार में ऐसे संतों का आगमन आज विरल है और जो पुण्यवान उनके समागम से अपना कल्याण कर लेते हैं, वे धन्य हैं, अतिशय धन्य हैं।

अन्य दृष्टि-बिंदुओं पर भी विचार करो

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है तथा उसका मस्तिष्क ही उसे सारे प्राणी समाज में एक विशिष्ट व उच्च स्थान प्रदान करता है। मनुष्य सोचता है स्वयं ही और स्वतंत्रता-पूर्वक भी, अतः उसका परिणाम स्पष्ट है कि विचारों की विभिन्न दृष्टियां संसार में जन्म लेती हैं। एक ही वस्तु के स्वरूप पर भी विभिन्न लोग अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियों से सोचना शुरू करते हैं। यहा तक तो विचारों का क्रम ठीक रूप में चलता है। किन्तु उससे आगे क्या होता है कि एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टियों में सोचकर उसके स्वरूप को समन्वित करने की ओर वे नहीं झुकते। जिसने एक वस्तु की जिस विशिष्ट दृष्टि को सोचा है, वह उसे ही वस्तु का सर्वांग स्वरूप घोषित कर अपना ही महत्व प्रदर्शित करना चाहता है। फल यह होता है कि एकांतिक दृष्टिकोण व हठधर्मिता का वातावरण मजबूत होने लगता है और वे ही विचार जो सत्यज्ञान की ओर बन सकते थे, पारस्परिक समन्वय के अभाव में विद्वेषपूर्ण संघर्ष के जटिल कारणों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। तो हम देखते हैं कि एकांगी सत्य को लेकर जगत के विभिन्न विचारक व मतवादी उसे ही पूर्ण सत्य का नाम देकर संघर्ष को प्रचारित करने में जुट पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति में स्याद्वाद का सिद्धान्त उन्हे वताना चाहता है कि सत्य के टुकड़ों को पकड़कर उन्हें ही आपस में टकराओ नही, बल्कि उन्हें तरकीव से जोड़कर पूर्ण सत्य के दर्शन की ओर सामूहिक रूप से जुट पड़ो। अगर विचारों को जोड़कर देखने की

वृत्ति पैदा नही होती व एकांगी सत्य के साथ ही हठ को बांध दिया जाता है तो यही नतीजा होगा कि वह एकांगी सत्य भी न रहकर मिथ्या में बदल जायगा। क्योंकि पूर्ण सत्य को न समझने का हठ करना सत्य का नकारा करना है। अतः यह आवश्यक है कि अपने दृष्टिबिन्दु को सत्य समझते हुए भी अन्य दृष्टि विन्दुओं पर उदारतापूर्वक मनन किया जाय तथा उनमें रहे हुए सत्य को जोड़कर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टियों से देखने की कोशिश की जाय। यही जगत के वैचारिक संघर्ष को मिटाकर उन विचारों को आदर्श सिद्धान्तों का जनक बनाने की सुन्दर राह है।

नवीनता का अर्थ

कल्याण मार्ग की ओर आगे बढने से ही जीवन में नवीनता का उद्भव हो सकता है। क्योंकि जागतिक विकृतियों में फंस कर आत्मा अत्यधिक जीर्ण-सी बन गई है। उसमें नवीनता लाने के लिये शास्त्रीय, सनातन व सत्यरूपी जीवनौषधि की आवश्यकता है। जहां जीवन में सम्यग् गति नही वहाँ वैचारिकता नही, तो वैसा जीवन, जीवन नही उसे मृत्यु का दूसरा नाम कह सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि नवीनता के प्रति आकर्षण-

वृत्ति मनुष्य के हृदय में संलग्न क्यों है ? जीवन में इस वृत्ति से क्या कोई लाभ भी है ?

यह वृत्ति इस बात की परिचायिका है कि शुद्ध आत्मज्योति आकर्षण का केन्द्र-विन्दु वनती है, जिससे मनुष्य स्वयं सोचता है, जानता है, सीखता है और स्व-पर के लिये वस्तुतः कार्य क्षेत्र निर्धारित कर सकता है। मनुष्य इसी पवित्र शक्तिस्रोत के बल पर अपना स्वतन्त्र मस्तिष्क, स्वतन्त्र व्यक्तित्व के शुद्ध आचरण की अनुभूतियों द्वारा जीवन-निर्माण कर सकता है।

अतः जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनानें वाले हों, शुद्ध-संयमी जीवन की उपयोगिता के लिये समाज व व्यक्ति में जीवन का सन्देश फूंकनें वाले हों, वे बहुत वर्षों के बने हुए होने पर भी नवीन समझना चाहिये।

इस नवीनता की स्फुरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिये ग्रहण करनी चाहिये और नवीनता के अनुभूत रहस्य को दूसरों पर प्रकट करना चाहिये, तभी नवीनता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता है।

समय तेजी से बदलता और बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में बुद्धिमता इसी में है कि सही नवीनता—आत्म-ज्योति के महत्त्व को हृदयंगम करके आज का मानव सही प्रगतिशीलता की ओर गति करने में पीछे न रहे।

महावीर का स्वाधीनता-सन्देश

●

महावीर ने जो कहा, पहले उसे किया और इसीलिए उनकी वाणी में कर्मठता का ओज व भावना का उद्रेक दोनों है। हिंसा के नग्न तांडव से सन्तप्त एवं शोषण व अत्याचार से उत्पीड़ित जनता को दुःखों से मुक्त करने के लिये भगवान महावीर ने स्वयं अहिंसा धर्म की प्रव्रज्या लेकर अहिंसा की क्रांतिकारी तथा सुखकारी आवाज उठाई। स्वार्थोन्मत्त नर-पिशाचों को प्रेम, सहानुभूति, शांति एवं सत्याग्रह के द्वारा उन्होंने स्वाधीनता का दिव्य-पथ प्रदर्शित किया।

माया-संग्रह रूप पिशाचनी के कराल जाल में फंसे हुए मानवों को उन्होंने पथभ्रष्ट विलासिता के दल-दल से निकाल कर निर्ग्रन्थ अपरिग्रहवाद का आदर्श बताया। उन्होंने स्वयं महलों के ऐश्वर्य व राजसुख का त्याग कर निर्ग्रन्थ साधुत्व को वरण किया तथा अपने सजीव आदर्श से स्पष्ट किया कि भौतिक पदार्थों के इच्छापूर्ण त्याग से ही आत्मिक सुख का स्रोत फूट सकेगा। क्योंकि ग्रन्थि (ममता) को ही उन्होंने समस्त दुःखों का मूल माना, चाहे वह ग्रन्थि जड़, द्रव्य-परिग्रह में हो, कुटुम्ब, परिवार में हो या काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मनोविकारों में हो—यह ग्रन्थि ही कष्टों का सृजन करती है। इसीलिए महावीर ने दृढ़ता से आह्वान किया—

"पुरिसा, अत्ताण मेव अभिणिगिज्ज एवं दुक्खा पमोक्खसि।"

हे पुरुषों ! आत्मा को विषयों (कामवासनाओं) की ओर जाने से रोको, क्योंकि इसी से तुम दुःखमुक्ति पा सकोगे ।

समस्त जैनदर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है । परिग्रह के ममत्व को काटकर संग्रहवृत्ति का जब त्याग किया जाएगा तभी कोई पूर्ण अहिंसक और स्वाधीन बन सकता है । ऐसी पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना ही जैनधर्म का मूलभूत ध्येय है । स्वाधीनता ही आत्मा का स्वधर्म अथवा निजी स्वरूप है । मोह, मिथ्यात्व एवं अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा अपने मूल स्वभाव को विस्मृत कर देती है और इसीलिए वह दासता की शृंखलाओं में जकड़ जाती है ।

स्वाधीनता का सही अर्थ

आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है—सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों एवं भौतिक जगत से सम्बन्ध विच्छेद करना । अंतिम श्रेणी में शरीर भी उनके लिए एक बेड़ी है, क्योंकि वह अन्य आत्माओं के साथ एकत्व प्राप्त कराने में बाधक है। पूर्ण स्वाधीनता की इच्छा रखने वाला विश्वहित के लिए अपनी देह का भी त्याग कर देता है। वह विश्व के जीवन

को ही अपना मानता है, सबके सुख-दुःख में ही स्वयं के सुख-दुःख का अनुभव करता है, व्यापक चेतना में जिनकी चेतना को संजो देता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि वह अपनी व्यष्टि को समष्टि में विलीन कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकारों के लिए रोता नही, वह कार्य करना जानता है और कर्तव्यों के कठोर पथ पर कदम बढ़ाता हुआ चलता जाता है।

फल की कामना से कोई कार्य मत करो, अपना कर्तव्य जान कर करो, तब उस निष्काम कर्म में एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का सम्पूर्ण समाज पर विशुद्ध एवं स्वस्थ प्रभाव पड़ सकेगा। कामनापूर्ण कर्म दूसरों के हृदय में विश्वास पैदा नहीं करता, क्योंकि उसमें स्वार्थ की गंध होती है और सिर्फ स्वार्थ, परार्थ का घातक होता है। स्वार्थ छोड़ने से परार्थ की भावना पैदा होती है और तभी आत्मिक भाव जागता है। इसी पथ पर आगे बढ़ो, ताकि आत्म-विकास की सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सके। इसीलिए बंधुओं, प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की अन्तिम सीमा तक गति करते ही रहेंगे।

स्वतंत्रता का सन्देश

●

स्वतन्त्रता ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है।

जो स्वतन्त्र हो जाता है, वही विजेता है, क्योंकि विजय का परिणाम ही स्वतन्त्रता के रूप में प्रकट होता है और जहां विजय है, वहां पराजितों का झुकना और वैभव-सम्पन्नता अवश्यम्भावी है।

आज 'स्वतन्त्रता' शब्द का हमने बहुत ही संकुचित अर्थ मान रखा है। स्वतन्त्रता की पूर्णोज्ज्वल ज्योति जहां चमकती है, वह स्थान है आत्मिक स्वतन्त्रता का। जब तक मनुष्य निज की मनोवृत्तियों को नहीं समझ पाता और उनकी सही प्रगति-दिशा का निर्धारण नहीं कर सकता वहां आत्मा का पतन है और आत्मा के गिरने पर कभी भी सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

पूर्ण स्वतन्त्रता की राह पर आगे बढ़ने के लिये यह आवश्यक है कि हम सुख और दुःख के रहस्य को समझें। यह सुनिश्चित तथ्य है कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है और दुःख से व्याकुल होता है। इसी प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक प्राणी अपने समस्त प्रयासों को भी इसी दिशा में नियोजित करना चाहता है कि उसे उनसे सुख ही सुख प्राप्त हो। परन्तु फिर भी यदि हम चारों ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि संसार के बहु-संख्यक प्राणी दुःखी हैं अतः जब भी विचार करे यही सनातन प्रश्न मुंह बाये सामने खड़ा रहता है कि संसार में इतना दुःख क्यों है?

सुख और दुःख का अनुभव विशेषरूप से मनुष्य के हृदयनिर्माण पर निर्भर करता है। दुःख में मनुष्य यदि

सही रूप से सोचे तो विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

इस सिलसिले में आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सुख और दुःख की काल्पनिक अनुभूति के परे ही आत्मानन्द का निवास है एवं जब आत्मानन्द का संचार होता है, तभी पूर्ण स्वतन्त्रता की मजिल का चमकता हुआ सिरा दिखाई देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब आत्मा सदैव आनंद ही आनन्द में रमण करेगी तो उसमें अपने विकारों, अपनी वासनाओं से लड़ने की एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जायगी और उस शक्ति के सहारे ही आत्मा के शत्रुओं को झुका दिया जा सकेगा। दासता की काली छाया हटेगी तथा मानस में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रकाश फैलेगा। वही प्रकाश विजेता का साम्राज्य होता है और वही प्रकाश उसकी वैभवसम्पन्नता है जो उसे त्रिभुवन का स्वामित्व प्रदान करता है। वन्धुओं! इसी प्रकाश को पाने के लिए हमें सुख और दुःख के वास्तविक रहस्य को समझकर अपने जीवनपथ का निर्माण करना चाहिये।

स्वतन्त्रता का आशय

●

प्रधान साध्य सत्य का साक्षाकार करना है, जिसके

प्रकाश में जीवन का कण-कण आलोकित होकर चरम विकास को प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए जैनदर्शन के सभी सिद्धान्त साधन रूप बन कर उक्त साध्य की ओर गमन-शील बनाते हैं। इसमें भौतिनवादी दृष्टिकोण को प्रमुखता न देकर आध्यात्मिकता को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। क्योंकि समस्त प्राणी समूह की सेवा के लिये यह अनिवार्य है कि सांसारिक प्रलोभनों को छोड़ कर आत्मवृत्तियों का शुद्धिकरण किया जाये, जिसके बिना इस अनवरत संघर्ष-शील जगत के वीच स्व—पर कल्याण सम्पादित नही किया जा सकता। सक्षेप में जैनदर्शन विश्वशाति के साथ—साथ व्यक्तिशांति का भी मार्ग प्रशस्त करता है।

यदि इस सिद्धान्त को विभिन्न क्षेत्रों में रहे हुए संसार के विचारक समझने की चेप्टा करें तो कोई सन्देह नही कि वे अपनी संघर्षात्मक प्रवृत्ति को छोड़कर एक-दूसरे के विचारों को उदारतापूर्वक समझकर उसका शान्तिपूर्ण सम-न्वय करने की ओर आगे बढ सकेंगे।

विश्वशांति का प्रश्न धर्म, सभ्यता व संस्कृति के विकास तथा समस्त प्राणियों के हित का प्रश्न है। कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी क्षेत्र में कार्य कर रहा हो, इस प्रश्न से अवश्य ही सम्बन्धित है। इस प्रश्न की सही सुल-झन पर ही मानवता की वास्तविक प्रगति का मूल्याकन किया जा सकता है और विश्वशांति की नीव को मजबूत करने का आज की परिस्थितियों में सबसे प्रमुख यही उपाय है, कि चारों ओर फैला हुआ विचारों का विषैला विभेद शांत किया जाये।

पर्यूषण : स्वाधीनता का महापर्व

स्वाधीनता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्वाधीनता है—आध्यात्मिक स्वाधीनता। हम वस्तुतः आत्मा हैं, अतएव आत्मिक दृष्टि से अगर हमें स्वाधीनता प्राप्त हो तो ही हम पूर्ण स्वाधीन कहला सकते हैं।

स्वतंत्र का अर्थ है अपने पर आप ही शासन करने वाला। जिस पर किसी दूसरे का शासन न हो, वही वास्तव में स्वतन्त्र है। अगर आपके शरीर पर, बुद्धि पर और मन पर पूरी तरह आपका ही शासन है और इन्हें आप अपनी इच्छा के अनुसार संचालित कर सकते है तो आप स्वतन्त्र हैं अन्यथा नही।

अगर आपने स्वाधीनता के मर्म को समझा है, धर्म के स्वरूप को जाना है तो आपका जीवन विराट होना चाहिये।

जिस देश की प्रजा अपने लोकोत्तर एवं लौकिक धर्म का श्रद्धा के साथ पालन करती है, राग-द्वेष का त्याग करके प्रीतिभाव रखती है। वही स्वाधीनता का चिरकाल पर्यन्त उपयोग कर सकती है। वही स्वाधीनता साकार होती है। यही कल्याण का मार्ग है। यही परमात्म-प्राप्ति का मार्ग है। जो इस मार्ग पर चलेगा, उसका कल्याण होगा।

प्रकाश का सन्देश

दीपमालिका ! अमावस के अन्धकार को चीर कर झिलमिलाते हुए अगणित दीपक मानो यह सन्देश देते हैं कि-घनी विपदाओं और निराशाओं के बीच भी साहस व त्याग के ऐसे दीपक जलाओ कि आत्म विकास का पथ प्रकाशमय हो जाये ।

दीपमालिका ! अपने नन्हें-नन्हें दीपों की ज्योति से उस प्रकाश की झलक दिखाती है, जिसका विस्तार प्रेम, अहिंसा, सेवा और त्याग के विकास पथ पर फैला रहता है । वह प्रकाश की झलक जिसका अनुकरण करती हुई आत्म-लक्ष्मी का पदार्पण होता है । ये दीप उस प्रकाश के प्रतीक कहे जायें जो प्रकाश अन्तरात्मा से उत्पन्न होता है और घनीभूत होता हुआ एक दिन परमात्मरूप में परिवर्तित हो जाता है ।

दीपमालिका के इन दीपों की ज्योतियों में आत्म-विजय की लक्ष्मी मुस्कराया करती है, दीपकों के अ तर में निहारो, ज्योति में गहराई से प्रवेश करो तो दिखाई देगा कि पतन और अन्धकार के समुन्दरी तूफान में जीवन-नौका को विकास का मार्ग दिखाने वाले अन्तर्दृष्टि के ऐसे दीप आत्मा के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम कर रहे हैं ।

अत: दीपमालिका का पहला आयोजन होना चाहिए—जीवन की स्वच्छता और सजावट का । भावनामय जगत इस प्रकार स्वच्छ व सम्यक् प्रकारेण सुसज्जित हो कि मानसिक

विकारों के विनाश के साथ-साथ सद्विचारों का निर्माण भी हो। इसमें सफल बनने के लिए निर्लेपता तथा शुद्ध, कठोर कर्मठता की अधिक आवश्यकता होती है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

आज दीपमालिका है। अमावस के अन्धकार को चीरकर झिलमिलाते हुए अगणित दीपक मानो यह सन्देश देते हैं कि घनी विपदाओं और निराशाओं के बीच साहस व त्याग के ऐसे दीपक जलाओ कि आत्म-विकास का पथ प्रकाशमय हो जाय।

यह ठीक है कि दीपकों की माला से बाह्य प्रकाश तो होता ही है किन्तु इन छोटे-छोटे मिट्टी के लघु-दीपों को अन्तर्जगत् का प्रतीक मानकर आत्मक्षेत्र को ज्योतित करना चाहो तो इस दीपमालिका के पर्व का सच्चे दिल से भावा-नात्मक स्वरूप पहचानने का प्रयास किया जाना चाहिए।

दीपमालिका अपने नन्हे-नन्हे दीपों की ज्योति से उस प्रकाश की झलक दिखाती है, जिसका विस्तार प्रेम, अहिंसा, सेवा और त्याग के विकास-पथ पर फैला रहता है। वह प्रकाश की झलक—जिसका अनुसरण करती हुई आत्म-लक्ष्मी का पदार्पण होता है। इस पर्व की ऐतिहासिक आधार-

शिला भी बताती है कि ये दीप उस ज्योति से जल रहे हैं, जिसके लिये विश्व की महान् विभूतियों ने अपने आदर्शों का स्नेहदान दिया है—नया प्रकाश फैलाया है।

अतः दीपमालिका का पहला आयोजन होना चाहिए—जीवन की स्वच्छता और सजावट का। आपका भावनामय जगत इस प्रकार स्वच्छ व सम्यक्प्रकारेण सुसज्जित हो कि मानसिक विकारों के विनाश के साथ-साथ सद्विचारों का निर्माण भी हो। तदनन्तर आपके वचन और आपके कार्य शुद्धिकृत व नवसज्जायुक्त मन के अनुरूप ढलने लगेंगे। इस तरह के व्यक्तिगत जीवन के निर्माण का प्रभाव होगा कि उस पवित्र सम्पर्क से समाज में भी उस वातावरण की रचना हो सके— ऐसी प्रेरणा मिलेगी। जितना बाहरी स्वच्छता और सजावट का कार्य आसान है, उतना ही आंतरिक एवं सामाजिक स्वच्छता व सजावट का कार्य कठिन है। अतः इसमें सफल बनने के लिए निर्लेपता तथा शुद्ध, कठोर कर्मठता की अधिक आवश्यकता होती है।

अतः आज के पर्व-दिवस का कर्तव्य है कि इन लघु-दीपों की पृष्ठभूमि के महापुरुषों के दिव्य-चरित्र का पुनीत स्मरण किया जाय और इस मंगलपर्व के जागृत-सन्देश को इस रूप में हृदयंगम करने का शुभ प्रयास किया जाय कि जिस तरह उन विश्वविभूतियों से त्याग, सच्चा प्रेम और सेवा के पथ पर चलकर अपनी अडिग अकर्मण्यता का परिचय दिया और निज के साथ-साथ जगत् के जीवन को प्रकाशित किया, उसी तरह आप भी सत्कर्मठ कर्मण्यता का व्रत ले और अपनी समस्त सत्शक्तियां लगाकर निज के एवं

समाज और धर्म के क्षेत्र में प्रगतिशील तथा प्रकाशमान नवीनता का संचार करे।

जीवन का बसन्त

जीवन में ऊँचा-से-ऊँचा विकास संभव है और कोई भी लक्ष्य असंभव नही है। जीवन के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर जब कोई पथिक पग बढ़ाता है और उस समय भयंकर प्रतिकूलताए अगर उसके कदमों को डगमगा दे तो वह स्थिति परिस्थितियों की दासता के रूप में देखी जायगी। जीवन में सफलता उस पथिक को मिलती है जो मजबूत कदम बढाता हुआ हर प्रतिकूल परिस्थिति को संभव बनाता हुआ आत्म-विकास के लक्ष्य की ओर अग्रसर होता चला जाता है। ऐसी ही अवस्था में जीवन का बसन्त खिलता है, जिसके पत्र-पल्लवों की हरितिमा आत्म-सुख की अनुभूति देती है, पुष्पों का मधुरिम सौरभ आचार एवं विचार-वैभव को सुवासित बना देती और वासन्ती बहार त्याग की भावनाओं को उभार देती है।

जीवन में प्रस्फुटित होने वाले 'ऐसे नव–बसन्त का अभिनन्दन करने के लिये आपको अपने सामाजिक जीवन की भी कायापलट करनी पड़ेगी तब मिथ्या और

घातक सामाजिक रूढ़ियों का दाह-संस्कार इसलिये जरूरी आप महसूस करेंगे कि ऐसी मनोवृत्तियां सदैव प्रगतिपथ का अवरोध करती हैं । आप चाहे की अधोगति में ले जाने वाले सड़े-गले कुसंस्कारों, मिथ्या रीति-रिवाजों एवं खतरनाक अन्ध-विश्वासों को भी अपने दैनिक जीवन से चिपकाये रखो और जीवन में बसन्त के आगमन का भी आह्वान करो–तो ये परस्पर विरोधी बातें एक साथ कैसे चल सकती हैं ? अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष व ऐसे सभी मनोविकारों को अपनी प्रकृति से विदा देने पर ही वात्सल्य, प्रेम, नम्रता, विश्वबन्धुत्त्व तथा स्व-स्वरूपरमण एवं अन्य नवीन सद्गुणों के अतिथि आपके जीवनरूपी प्रांगण में प्रवेश कर सकते हैं । इनका प्रवेश आत्मा को बसन्तश्री से सुसज्जित कर देगा ।

प्रकृति पतझड़ में जब सूखे पतों को नीचे गिरा देती है तभी बसन्त खिलता है । अतः आपके समाज में हो या साधु समाज में–– विकृतियों की सूखी पत्तियों को झाड़ना ही पड़ेगा । एकता और सही विकास की कड़ी में बंध जाने के लिये अहितकर दांभिक प्रवृत्तियों को त्यागना पड़ेगा ।

जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा

●

जो कर्म में शौर्य प्रदर्शित करेंगे, वे ही तो आखिर

धर्म के विराट क्षेत्र में भी साहस और सजगता के साथ आगे बढ़ सकेंगे। जहां शौर्यत्व का ही अभाव है, वहां तो ऐसे लोगों की किसी भी क्षेत्र में अपेक्षा नही की जा सकती। कर्म शक्ति से भागने वाला संसार के अपने पुनीत व नैतिक कर्तव्यों से सहज ही स्खलित हो जाने वाला, धर्म की दुनिया में भी स्थिर चित्त कैसे बना रह सकता है ?

कोरी कल्पनायें व वाणीविलास किसी भी क्षेत्र में कार्य की संपन्नता में सफल नहीं हो सकता। कार्य की सफलता जिस तत्त्व की तह में निहित है, वह है पुरुषार्थ और उसे जगाये बिना न व्यक्ति जाग सकता है और न समाज, बल्कि अन्तर्तम का विकास भी इसके बिना साधा नही जा सकता।

पुरुषार्थ के लिये कठिनतम कार्य भी असंभव नहीं होते और जहां असंभावना की विचारधारा ही नहीं, वहां रुकना और गिरना कैसा ? वहां तो निरंतर बढ़ते रहना है और बीच में आने वाली आपदाओं से सफलतापूर्वक लड़ते-भिड़ते रहना है। इसी पुरुषार्थ के प्रबल आवेग में नेपोलियन ने ललकार कर कहा था कि असंभव शब्द सिर्फ मूर्खों के कोष में होता है और उसने किसी अपेक्षा से बिल्कुल ठीक कहा था। अनन्तशक्ति-सम्पन्न आत्मा के लिये महान से महान कार्य संपादन भी कतई असंभव नहीं। पौरुष के आगे हमेशा राह होती है।

कार्यशक्ति कभी असफल नहीं होती— यह एक तथ्य है, किन्तु फिर भी लोगों में विपरीत वृत्ति देखी जाती है कि वे सुख और आनन्द तो चाहते हैं, मगर काम से

राते हैं, आलस्य की शरण में अधिक जाते हैं। इस तरह उन्हें सफलता नही मिलती, क्योंकि बिना सतत प्रयासों के वह संभव नही।

कर्म के शूर ही धर्म में भी शूर सिद्ध होते हैं, क्योंकि बिना शौर्य व पुरुषार्थ के धर्माराधना भी कहां? प्रमादो व्यक्ति तो कही भी सफल नही हो सकता। भगवान महावीर ने इसीलिये स्पष्ट कहा है कि 'समयं गोयम, मा पमायेए' अर्थात् हे गौतम! समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत कर! छोटा-से-छोटा क्षण भी जहां मनुष्य आलस्य से रंग देता है वहां उसमें उसके जरिये कुछ-न-कुछ बुराई घुस हो जाती है।

नवीनता के अनुगामियों से

●

जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनाने वाले हों, शुद्ध-संयमी जीवन की उपयोगिता के लिये समाज व व्यक्ति में जीवन का सदेश फूंकने वाले हों, वे बहुत वर्षो के बनें हुए होने पर भी नवीन ही समझना चाहिये। किन्तु विवेक एवं आत्म-ज्योति को भुलाने वाले नवीनता के नाम पर विकारी भाव व स्वार्थ के पोपक नैतिक भावहीन सुन्दर शब्दों में नवीन बने हुए कितने ही नियमोपनियम हों वे

प्राचीन शब्द से कहे जाने चाहिए । उन शब्दों में समय का मापदंड ठीक नही हो सकता, किन्तु संयमी जीवन को उपयोगिता का मुख्य महत्त्व होता है ।

इस दृष्टि से तत्त्वों का चयन किया जाना चाहिये । न कि ग्राज के किन्ही जोशीले नवयुवकों की तरह कि पुरानी सब चीजें त्याज्य हैं । सभ्यता से पिछड़ी हुई हैं, ग्रौर नई सभ्यता की सारी चीजें ज्यों की त्यों ग्रपनाने योग्य हैं । मै उन नवयुवकों को भी कहना चाहूंगा कि दृढाग्रह ग्रलग चीज है ग्रौर विवेकपूर्ण समझना ग्रलग बात है एवं मेरा खयाल है सही समझ के लिये प्राचीन एवं नवीन का जो ऊपर मापदंड बताया गया है, वह सभी दृष्टियों से काफी समुचित जान पड़ेगा ।

इस नवीनता की स्फुरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिये ग्रहण करना चाहिये ग्रौर नवीनता के ग्रनुभूत रहस्य को दूसरों पर प्रगट करना चाहिये, तभी नवीनता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता है । किन्तु होता क्या है कि कई सुधारक दूसरों के जीवन मे सुधारमय नवीनता लाने के लिए बड़ा जोर लगाते हैं ग्रौर ग्रपने जीवन का खयाल कम रखते हैं । व्यक्ति ग्रपने जीवन में कुछ भी न उतार कर दूसरों से कुछ कहे, यह एक प्रभावहीन तरीका है ।

जानो और करो

यह साधारण विवेक की बात है कि हम कोई कार्य निष्प्रयोजन नही करते । एक स्थान से उठकर दो घर भी कही जाना होता है तो पहले हम सोचते हैं कि यह हमें किसलिये करना है । करने से पहले जो पूर्व विचारणा है वही ज्ञान है और इसके प्रकाश में ही हमारा करना सफल हो सकता है । पहले योजना बनाना और फिर उसका अमल करना ही सफलता की कुंजी है। आत्मोत्थान के लिए या किसी कार्य के लिये विना ज्ञानयुक्त क्रिया के कोई लाभ नहीं । न अंधे की तरह इधर-उधर भटकने से कोई प्रयोजन हल हो सकता है, न आंखों की रोशनी लेकर एक जगह बैठ जाने से । किसी स्थान पर पहुंचना तो तभी हो सकता है कि आंखे खोलकर ठीक रास्ते पर आगे बढते जाये । इसके लिये पहले ज्ञान का प्रकाश होना चाहिये ताकि उस उजाले में मार्ग ठीक-ठीक दिखाई दे और ठीक उसी के लक्ष्यानुसार आगे बढा जा सके । 'जानो और करो' का सिद्धान्त ही आनन्द प्रदान कर सकता है ।

कतिपय भाई स्वार्थवशात भोली जनता में शास्त्र विरूद्ध भ्रमणा फैलाने के लिये ज्ञान और क्रिया के संयुक्त महत्त्व पर आघात करते है और धर्म एवं पुण्य की असंबद्ध व्याख्याओं का निर्माण करते है । भले ही इस प्रकार की व्याख्याओं से पहले भोली जनता को भ्रमित करने में सफलता मिल जाये लेकिन वास्तविक उत्थान चाहने वाले जब इन सिद्धांतों के विषय में गभीरता से सोचेगे तो उन्हे निश्चय

ही सत्य के धरातल पर आना पड़ेगा ।

सही बात यही है

समाज की गति पारस्परिकता पर निर्भर होती है और जब यही मानवीय वृत्ति व्यापक होकर समाज के विशाल आंगन में चारों ओर प्रसारित हो जायेगी, तो फिर सभी नागरिक अपने पारस्परिक व्यवहारों में इस प्रवृत्ति के अनुसार कार्यरत होंगे । इसका निश्चय ही यह फल होगा कि कष्टों का उद्भव ही खत्म होने लगेगा । एक दु ख नहीं देगा और दूसरे भी दुःख नही देंगे । इस तरह ही पहले को कभी दुःख का सामना नही होगा ।

इसलिये यह स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिये कि दु:ख दूर करने का यही प्रधान मार्ग है कि हम पहले किसी को दु.ख देना छोड दे, क्योंकि सामाजिक रचनात्मक कार्य का प्रारभ भी व्यक्ति से ही संभव हो सकेगा, अगर प्रत्येक व्यक्ति पहले प्रारम्भ की अपेक्षा दूसरे से ही करता रहे तो सामाजिक कार्यो का संपादन दुष्कर क्या असम्भव ही हो सकेगा । अत· सबसे पहले हम लोग यह संकल्प करे कि हम किसी को कभी किसी तरह की पीडा नही पहुंचायेंगे, कभी किसी को हम से कोई कष्ट हो जायगा तो उसके लिये

प्रायश्चित्त करेंगे तथा सबकी भविष्य में सुखप्राप्ति की निरंतर कामना करते रहेंगे। इस प्रकार की भावना हृदय के सारे कलुष को धोकर उसे दर्पणवत चमकाकर प्रकाशित कर देगी।

इसलिए क्या तो राजनीति में व क्या अन्य सभी मानवीय नीतियों में स्वार्थ-त्याग की धर्ममय नीति के प्रवेश कराने की आवश्यकता है। जहां हृदयों में संकुचितता है, वहां सुखों का द्वार नही खुलता। सुखों के लिये तो हृदयों की उदारता का त्याग के आधार पर अधिक-से-अधिक विस्तार होना चाहिये।

गोपनीयता का परिणाम

●

गोपनीयता सदैव सत्य-विरोधिनी होती है क्योंकि सच्चाई और छिपावट का कोई मेल नही। जो बात सत्य है उसे छिपाने की कोई आवश्यकता नही और जिस किसी बात को छिपाने की कोशिश की जाती है, उसमें कही-न-कही झूठ की बू अवश्य मिलेगी।

गोपनीयता से मिथ्यावाद बढता है और उससे कुटिलता एव कुटिलता से दुष्कृत्यों की एक बाढ़-सी आ जाती है। गोपनीयता की नीव पर अधर्म का महल बन जाता

विकट समस्या : सरल समाधान

●

आज साधारणजन के समक्ष बड़ी विकट समस्या है कि उसका जीवन कैसा हो ? किस प्रकार आवश्यक जीवनोपयोगी पदार्थों को सरलता से उपलब्ध कर वह अपने जीवन को शांतिमय, नीतिमय और धर्ममय वना सके ? वस्तुस्थिति यह है कि आज अशाति एव असंतोष के बादल मंडरा रहे हैं, जिन्होने जीवन के सुखरूपी सूर्य को ढक लिया है।

तो प्रश्न उठता है कि आखिर सुख क्या है ? इसका उत्तर अति गंभीरता से विचारने का विषय है। सुख का निवास किसी पदार्थ विशेष व स्थिति विशेष मे नही है। वह तो अन्तर् की प्रगाढ अनुभूति में ही प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य पदार्थो के समागम से उपलब्ध होने वाला सुख केवल सुखाभास है तथा वह भी क्षणिक है। लेकिन वर्तमान युग में दुनिया की दौड़ बाह्य पदार्थो में ही सुख खोजने में हो रही है।

किन्तु यह एक नग्न सत्य है कि जब तक जीवन को त्याग की ओर नही मोड़ा जायगा, मानव-जीवन में शाति एवं सुख का सचार होना कठिन है।

जिन-जिन व्यक्तियों ने त्याग का मार्ग अपनाया है, वे ही जनता के श्रद्धेय हो सके है, महापुरुष वन सके है। महावीर को ही ले लीजिये, वे इसलिये विश्वविभूति नही वने कि वे राजपुत्र थे, विशाल वैभव व ऐश्वर्य के धनी थे,

वल्कि इसलिये कि उपलव्ध होने पर भी उन्होंने उस सारे विशाल वैभव को निर्ममत्व रूप से त्याग कर प्राणीकल्याणार्थ अपना समग्र जीवन साधना में सर्मपित कर दिया। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी ऐसे महापुरुषों की स्मृतियां भुलाई नही जा सकती। उनके दिव्य सन्देश जनहृदय में सदैव गुंजायमान होते रहते हैं, उनमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

त्याग की भावना और त्याग की प्रवृत्ति अपना दुहरा असर डालती है। एक ओर तो इसका असर त्याग-कर्त्ता के निज के जीवन पर पडता ही है दूसरी ओर इस वृत्ति का प्रभाव समूची समाज-व्यवस्था पर भी पड़ता है।

व्यक्ति का त्याग समाज में फैलता है, उसके वैभव का विकेन्द्रीकरण होता है विषमता घटती है और ऐसी स्थिति सामाजिक न्याय एवम् धार्मिक भावना को प्रोत्साहन देती है। समाज में उस त्याग के आधार पर एक नया वातावरण भी फैलता है।

सर्व दुःखों की औषधि

मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी आत्म-शक्ति को ही प्रज्जवलित करे, अपने आपको अधिकाधिक शिथिल न बनाता जावे; क्योंकि आत्मा ही आत्मा का वन्धु और

आत्मा ही आत्मा का शत्रु है अर्थात् अपने उत्थान-पतन का कारण अपना ही आत्मा है। यह सन्देश आज कितनी प्रेरणा देता हुआ प्रतीत होता है। जहां हम आत्म-शक्ति की आलोचना और दृढ़ता पर डट जाते हैं, तब हमारे अन्दर एक विशेष प्रकार का तेज अद्भुत होता है और उस तेज के समक्ष अन्याय की बुनियाद पर टिकी हुई दुनिया की कोई शक्ति ठहर नहीं सकती।

अत: शोषण-विरोध के किन्हीं साधनों का आश्रय लेने से पहिले यह सोच लिया जाय कि शोषण का मूल कारण शोषित की मरी हुई आत्माएं है और जब तक उनमें जीवन नहीं डाला जायगा, शोषण का स्थायी अन्त कदापि नहीं हो सकता। यदि हिंसात्मक साधनों या अन्य ऐसे ही हीन व अशुद्ध साधनों से शोषण को समाप्त करने की चेष्टा की गई तो हानि के अतिरिक्त उसमें कुछ भी प्राप्त नही होगा; क्योंकि यह खतरे भरा रास्ता है। और माना कि इसमें एक बार सफलता मिल गई, फिर भी शोषण किसी-न-किसी दूसरे रूप में आकर अपना वैसा ही आधिपत्य जमा लेगा।

अभिप्राय यह है कि आज इस भौतिकवादी सड़ान से ऊपर उठने की नितान्त आवश्यकता है, जिसके आधार पर महान विग्रह मचे हुए हैं और यह समझने की जरूरत है कि हमारा स्वयं का आत्मा प्रकाशमान है और आनंद का मधुर स्रोत है। बाहरी जो सुख हैं, वे केवल हमारी आत्ममूर्छा को ही बढाते हैं और हमें पतन की राह पर ढ़केलते है। वास्तविक आनन्द तो इन्द्रियों के क्षेत्र से परे रहता है। आनंद करने वाला तथा विशेप जिज्ञासु होने

के कारण ज्ञान प्राप्ति में आनन्द लेने वाला आत्मा है और उसी का आनन्द समय और वस्तु के प्रभाव से रहित है। जब आत्मा इसी आनन्द की शोध में तल्लीन होता है, तभी सच्ची शान्ति का अनुभव कर सकता है।

यदि इसको समझ लें !

संसार में सुख की अविरल धारा प्रवाहित करने के लिए यह ध्रुव मार्ग है कि अगर तुम्हें दुःख नहीं चाहिए तो अपनी ओर से भी किसी को दुःख न दो, किन्तु सुख दो।

इस विचारणा को अगर गम्भीरतापूर्वक समझने की चेष्टा की जाय तो आत्म-स्वरूप के समीप पहुंचा जा सकता है। उस समय ऐसी अनुभूति होगी कि अपने दुःखों के लिए दूसरों को दोष देना व्यर्थ है। अगर हम ही अपनी प्रवृत्तियों को सीमित व वृत्तियों को संयमित रखे अर्थात् अपनी ही आत्मा को निकट से समझें व कर्त्तव्यपथ पर चलावें तो दुःखों की सृष्टि ही नहीं होगी, बल्कि निजत्व को विसर्जन कर देने से स्वर्गीय भावों के साथ अमिट सुख का अनुभव होने लगेगा।

वैसे समझने में यह सिद्धान्त बड़ा सरल प्रतीत होता है कि दुःख न दो, दुःख नहीं होंगे; किन्तु अगर आज के

अशान्त व हिंसात्रस्त विश्व में व्यक्ति व राष्ट्र सही तौरपर इसे आचरण में लाना प्रारम्भ कर दे तो निश्चय समझिये कि शक्ति एव सुख के नये वातावरण की सुन्दर रचना की जा सकती है। क्योंकि आज की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का मूल ही यह है कि दूसरों के दु:खों पर कुछ लोगों के सुखों का ससार बसाया जाता है, जिसका आखिरी परिणाम सबके दु:ख के सिवाय कुछ नही निकलता।

ऐसी ही कुछ स्थिति आज विभिन्न राष्ट्रों के बीच भी बनी हुई दिखाई देती है। जो शक्तिशाली राष्ट्र है, वे किसी भी तरह कमजोर राष्ट्रों को अपने कब्जे में करना चाहते है।

वर्तमान राष्ट्र अगर दु:खवाद के इस रहस्य को समझ जावे और उनके शासक अपनी नीतियाँ सहृदयता व ईमानदारी से बरतने लगे तो कोई कारण नही कि युद्धों को न रोका जा सके तथा विश्वशाति की बुनियाद मजबूत न बनाई जा सके।

अनमोल मानव जीवन

यही वह जीवन है, जहा संसार के गतिचक्र में भटकती हुई आत्मा अपने उत्थान के लिए संघर्ष कर सकती है

और विकारों को काट कर चरम विकास को भी प्राप्त कर सकती है। चूंकि विकास का विवेक और प्रयासों की सफलता इस जीवन में चोटी तक पहुंच सकती है, मानव-जीवन की सबसे बड़ी विशिष्टता है। इसलिए यह दुर्लभ है कि जहां मनुष्य को अपनी प्रगति दिशा का संकेत मिलता है, अन्तिम विकास तक को पालेने की शक्ति मिलती है।

मानव-जीवन की भौतिक शक्तियों के पा लेने में विशेपता नहीं है, पाकर उन्हें निस्पृहभाव से त्याग देने में उसकी परम विशेषता रही हुई है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) में कहा है--

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोए, सेहु चाई त्ति बुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थों को प्राप्त करके भी उन्हें आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धनसंग्रह जहां दु:ख-क्लेश का मूल है, वहां उसी धन को निस्पृह भाव से त्याग करने में महान् आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धान्त से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल में अपने आपको फंसा कर मानव-जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दों में "तिल की खल को पकाने के लिए अमूल्य रत्नों के पात्र का उपयोग करने वाले, आक की खेती के लिए कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान के सभी संयोग उप-

अशान्त व हिंसात्रस्त विश्व में व्यक्ति व राष्ट्र सही तौरपर इसे आचरण में लाना प्रारम्भ कर दें तो निश्चय समझिये कि शक्ति एवं सुख के नये वातावरण की सुन्दर रचना की जा सकती है। क्योंकि आज की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का मूल ही यह है कि दूसरों के दुःखों पर कुछ लोगों के सुखों का ससार बसाया जाता है, जिसका आखिरी परिणाम सबके दुःख के सिवाय कुछ नही निकलता।

ऐसी ही कुछ स्थिति आज विभिन्न राष्ट्रों के बीच भी बनी हुई दिखाई देती है। जो शक्तिशाली राष्ट्र है, वे किसी भी तरह कमजोर राष्ट्रों को अपने कब्जे में करना चाहते है।

वर्तमान राष्ट्र अगर दु.खवाद के इस रहस्य को समझ जावें और उनके शासक अपनी नीतियाँ सहृदयता व ईमानदारी से बरतने लगे तो कोई कारण नही कि युद्धों को न रोका जा सके तथा विश्वशाति की बुनियाद मजबूत न बनाई जा सके।

अनमोल मानव-जीवन

यही वह जीवन है, जहा संसार के गतिचक्र में भटकती हुई आत्मा अपने उत्थान के लिए संघर्ष कर सकती है

और विकारों को काट कर चरम विकास को भी प्राप्त कर सकती है। चूंकि विकास का विवेक और प्रयासों की सफलता इस जीवन में चोटी तक पहुंच सकती है, मानव-जीवन की सबसे बड़ी विशिष्टता है। इसलिए यह दुर्लभ है कि जहां मनुष्य को अपनी प्रगति दिशा का संकेत मिलता है, अन्तिम विकास तक को पालेने की शक्ति मिलती है।

मानव-जीवन की भौतिक शक्तियों के पा लेने में विशेषता नहीं है, पाकर उन्हें निस्पृहभाव से त्याग देने में उसकी परम विशेषता रही हुई है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) में कहा है—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोए, सेहु चाई त्ति वुच्चई ॥

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थों को प्राप्त करके भी उन्हे आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धनसंग्रह जहां दुःख-क्लेश का मूल है, वहां उसी धन को निस्पृह भाव से त्याग करने में महान् आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धान्त से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल में अपने आपको फंसा कर मानव-जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दों में "तिल की खल को पकाने के लिए अमूल्य रत्नों के पात्र का उपयोग करने वाले, आक की खेती के लिए कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान के सभी संयोग उप-

लब्ध होने पर भी उनकी ओर ध्यान न देकर धन-लिप्सा व मिथ्या व्यामोहों में फंस जाना अपनी ही आत्मा के साथ भीषण विश्वासघात करना और मानव-जीवन की अनुपम विशिष्टता को व्यर्थ ही में खो देना है।

आज का संसार, जो केवल भौतिक पदार्थों की प्राप्ति में ही सुख के अस्तित्व और मानव-जीवन की सफलता मानता है, वह अवश्य ही मिथ्या-भ्रमणा में है और इस तरह मानव-जीवन की यथार्थ महत्ता नष्ट हो रही है। मानव-जीवन और जगत का विशाल धरातल मानव को सच्चे सुख की अनुभूति उसी समय करा सकेंगे, जब धर्म के मर्म को समझ कर जीवन की दिशा विशुद्ध धर्माचरण की ओर मोड़ी जायगी।

समझ लो ! परख लो !!

●

विवेकशील व्यक्ति सुख और दुःख दोनों में तटस्थ वृत्ति रखते हैं, वे जानते है कि शुभ कर्मों के उदय से सुख और अशुभ कर्मों के उदय से दुःख प्राप्त होता है तथा कर्म-बंधन का कारण उसका ही निज का आत्मा है, अतः निज के किये हुए कर्मों का फल शांत भाव से ही सहन करना चाहिए। यह विचारणा ही मनुष्य के जीवन को

संतुलित बनाये रख सकती है अन्यथा जीवन अत्यन्त ही विश्रृंखल व विषम अवस्था वाला हो जाएगा।

सुख और दुःख का अनुभव विशेष रूप से मनुष्य के हृदय निर्माण पर निर्भर करता है। दुःख में मनुष्य यदि सही रूप में सोचे तो विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। किसी कवि ने कहा भी है—

दुःख है ज्ञान की खान .... मानव।

शांत बुद्धि और दृढ़ भावना के आधार पर दुःख से नई-नई-शिक्षायें मिलती हैं और यहां तक कि वे शिक्षायें इतनी अमिट रूप से अंकित हो जाती है कि भावी-जीवन के विकास-हित वे वरदान रूप सिद्ध होती हैं। अधिकांशतः सुख और दुःख की अनुभूतियां चित्त के विशिष्ट मनोभावों के कारण ही होती है। एक ही स्थिति व वस्तु में सुख व दुःख का अनुभव किया जा सकता है। यह तो अनुभव करने वाले पर निर्भर है कि वह चित्त को किस प्रकार से सतुलित रखता है?

इस सिलसिले में आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सुख और दुःख की काल्पनिक अनुभूति के परे ही आत्मानन्द का निवास है एवं जब आत्मानन्द का संचार होता है तभी पूर्ण स्वतन्त्रता की मंजिल का चमकता हुआ सिरा दिखाई देता है।

बंधुओं! इसी प्रकाश को पाने के लिए हमें सुख और दुःख के वास्तविक रहस्य को समझ कर अपने जीवन-पथ का निर्माण करना चाहिए।

भले ही देर हो किन्तु.....

●

झूठ सदा डरने वाला होता है, क्योंकि रहस्य खुल जाने के भय की तलवार हमेशा उसके सिर पर लटका करती है। झूठ की हमेशा रक्षा करते रहने के लिए मनुष्य कुटिलता का सहारा लेता है और उसके सहारे से वह धोखेबाजी और विश्वासघात में सफल बनता देखा जा सकता है।

परन्तु इस सारी परिस्थिति के साथ यह नग्न सत्य भी मजबूती से जुड़ा हुआ है कि असत्य-अधर्म का भडा फूटता है। लाख तौर-तरीकों से छिपाई हुई बात भी एक दिन बिना प्रगट हुए नही रहती दिखाई देती है। यह अवश्य है कि इस कुटिलता में जो कुशल हुआ तो उस छिपावट की मियाद भले ही बढ जाती है लेकिन मियाद तो मियाद ही ठहरी, एक दिन तो खतम हो जाने वाली है।

इस स्पष्टीकरण के पश्चात भी कोई यह शका व्यक्त कर सकता है कि माना बुराई छिपती नही और आखिरकार प्रकट होकर ही रहती है किन्तु प्रत्यक्ष तो इस दुनिया में सच्चे आदमी को हर जगह निराश होकर ठोकरे खानी पड़ती हैं।

ऐसी शंका करने वालों की कठिनाई को समझा जा सकता है। क्योंकि आज विपरीत वृत्तियों की बाढ़ वर्तमान जागतिक वातावरण में कुछ ऐसी आई है कि झूठे और अवसरवादी बिना कुछ किये अच्छे लाभ (भौतिक) उठा

लेते हैं और सच्चे एवं सेवाभावी व्यक्ति कुटिल प्रपंचों में फसा दिये जाकर दुःखी बना दिये जाते हैं। परन्तु इस स्थिति के होते हुये भी यह तथ्य हृदय में दृढ़तापूर्वक बिठा दिया जाना चाहिये कि सत्य वह ज्योति है जो कभी भी, किसी के द्वारा, किसी भी दशा में, किन्हीं भी उपायों से बुझाई नहीं जा सकती। संसार उस प्रकाश के समक्ष नत-मस्तक होता हुआ हर युग में देखा गया है।

शांति का निवासस्थान

●

शांति जीवन-विकास के लिए एक प्रमुख आवश्यकता है और जब तक किसी भी प्रकार से हम हमारे हृदय व मस्तिष्क में शांति के संचार का प्रयास नही करेंगे, आपत्तियों के तूफान में पड़कर कभी हम आत्मोन्नति की ओर ध्यान दे ही नही सकेगे। सच्ची शान्ति के लिए विकृत मनोविकारों का आवरण हटाना होगा, राग-द्वेष, मोह-माया, तृष्णा-स्वार्थ आदि रागात्मक वृत्तियों का त्याग करके हृदय को अधिकाधिक उदार व विशाल बनाना होगा। जो श्री महापुरुष शांति की परम स्थिति को पहुंचे है उनके स्पष्ट अनुभव है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य निजी स्वार्थो को भूलकर परहित में अपने स्वार्थो को विसर्जित करता चला जाता है, त्यों-त्यों वह शांति की मजिल के समीप पहुंचता है।

इसके साथ ही अपने ही स्वार्थ में निरत रहने पर जीवनाकाश को अशांति के बादल ही घेरे रहते हैं। इस रहस्य में आत्मा की मूल प्रवृत्ति का प्रदर्शन हमें मिलता है। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और इसलिए ऐसे कार्य सपादित करने में उसे आनन्द व शाति की प्राप्ति होती है, जो उसके नीचे गिराये रहने वाले भार को हल्का करते है। अपने दृष्टिकोण से दूसरों के लिए सोचना—यह संकुचित मनोवृत्ति आत्मा को पतन की राह पर नीचे ढकेलने वाली होती है। चाहे इस दृष्टिकोण में प्रत्यक्ष सुख दिखाई देता सकता है, किन्तु वह केवल सुखाभास होगा। दूसरों के दृष्टिकोण से अपने को भी सोचना—यह हृदय की विशालता का लक्षण है और चूकि इसमें किभी भी प्रकार की विकृति की छाप नही होती, आत्मा को आन्तरिक सुख व स्थायी शांति प्रदान करती है।

इस प्रकार हम देखते है कि आन्तरिक स्थायी शांति का निवास स्वार्थ-त्याग तथा आत्म-वलिदान में ही रहा हुआ है।

अनिवार्य आवश्यकता

●

धर्म की दिशा में आगे वढ़ने का सवसे पहला और

सबसे ऊंचा साधन है कि अन्तःकरण को निर्मल एवं शुद्ध बनाकर धर्म के लिये समुचित धरातल का निर्माण किया जाय। धर्म की दिशा को समझकर उसके अनु ूल धरातल का निर्माण नही करना और धर्माराधना का प्रयास करना अयोग्यता का सबूत देना है। धर्म की दिशा में आगे बढ़ने से पूर्व यह सोचा जाना परम आवश्यक है कि मैं इस दिशा में बढ़ने की भावना रखता हूं या नही।

अन्तःकरण की शुद्धि के लिये मनुष्य को अपने अन्तरतम में झांकना होगा, अपनी आलोचना स्वयं करनी होगी और देखना होगा कि वह अपने विकारों को किस प्रकार नष्ट करके पवित्रता के स्वरूप को पहचान पायगा? उसे परखना होगा कि उसने धर्म के आह्वान के लिये योग्य भूमिका की रचना कर ली है। इस हेतु उसे अपने हृदय की विशुद्धता के विविध उपायों पर दृष्टिपात करना होगा।

धर्म के धरातल का निर्माण अन्त.करण की शुद्धि पर आधारित होना चाहिये जिसके साधन हैं— आत्मलाघवता, विनम्रता, निष्कामवृत्ति आदि। जब तक मनुष्य अपने भीतर सहज विनम्रता व लाघवता का अनुभव नही करता, वह स्पष्ट रूप से तब तक अपने दोषों को नही पहचान सकता है; आत्म-प्रवंचना उसे भुलावा देती रहेगी। जब धर्म हमारे विशुद्ध मूल स्वभाव की मार्मिकता को पाने के लिये दोष रहित हृदय में निष्काम वृत्ति का प्रवेश होना चाहिए। कामनाओ से मुख मोडना ही एक तरह से विषमय सांसारिकता को छोड़ना है और आत्मोत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ना है।

इस दृष्टिबिन्दु से जब वर्तमान समाज की परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज के धार्मिक व पुण्य कृत्यों में अधिकतर कीर्ति-लिप्सा की दुर्गन्ध है। अपना नाम कमाने के लिए लोग लाखों की संपत्ति भी दे देंगे, चाहे उसका सदुपयोग हो अथवा नही। किन्तु जहां सच्ची आवश्यकता है, पर नाम कमाने का सुअवसर नही, तो कम ही उदाहरण सामने आते हैं।

नवीनता के अनुगामियों से

●

वास्तविक कल्याणमार्ग की ओर आगे बढने से ही जीवन में नवीनता का उद्‌भव हो सकता है, क्योंकि जागतिक विकृतियों मे फंसकर आत्मा अत्यधिक जीर्ण-सी बन गई है। उसमें नवीनता लाने के लिये शास्त्रीय सनातन व सत्यरूपी जीवनौषधि की आवश्यकता है। इस अवसर को हाथ से न जाने दे। तो क्या आप इस चेतावनी से सचेत होकर आगे बढने के लिये तैयार हैं? सांसारिकता में निरंतर डोलते हुए चंचलचित्त को नियंत्रित करके विकास के लक्ष्य की ओर स्थिर करने के लिये क्या उद्यत है? क्योंकि आपकी इस प्रकार की तैयारी ही नवीनता की तरफ गति करने का लक्षण होगी।

प्रचलित परिपाटियों में इधर-उधर से जो विकार आ जाते हैं उनको हटाने और चेतना जागृत करने के लिये मूल स्थिति के रक्षणपूर्वक जो भी विवेक सहित परिवर्तन लाये जाते हैं उन्हें भी नवीनता की संज्ञा दी जा सकती है। इन अर्थों में नवीनता का यह अभिप्राय होना चाहिये कि जो परिवर्तन और एकरूपता को संतुलित रखती हुई मनुष्य की सही जिज्ञासावृत्ति को संतुष्ट करती है और उसे सत्य-लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होने में जागृत रखती है। ऐसी सच्ची नवीनता है और उसके अनुगामी जीवन के सही प्रगतिमार्ग को निष्कंटक बनाते हैं।

यदि मनुष्य ने हृदय के अपवित्र विचारों को नहीं छोड़ा, अपने आपको स्थिरचित्त बनाकर जीवन के महत्त्व को नही समझा और सही कर्तव्याकर्तव्य का भी भान नही रखा तो उसके लिये केवल भौतिकवादी नवीनता निस्सार ही सिद्ध होगी।

नवीनता के अनुगामियों में जीवन-विकास की ऐसी एकनिष्ठा होनी चाहिये कि संसार के कोई भी प्रलोभन उनके लिये अग्राह्य हों।

अत इस अवसर पर निष्कर्ष रूप में मैं यही कहना चाहता हूं कि आप सच्चे त्यागमय जीवन की जागृति करें ताकि जीवन को सच्चे अर्थों में सफल बना सकें। व्यावहारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन दोनों का सम्यक् संतुलन और सही अर्थों में समन्वय जीवन में स्थापित कर आत्मीय सर्वांगीण विकास कर सकें। आध्यात्मिक जीवन की आधार-

शिला शुद्ध व्यावहारिक जीवन पर टिकी हुई है– 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' । अतः व्यावहारिक जीवन में भी सत्य-नवीनता फूकना उतना ही आवश्यक है ।

आत्म दर्शन का साधन

●

देह और आत्मा का अभेद समझने की मूढदृष्टि जब तक विद्यमान रहती है तब तक बहिरात्म दशा बनी रहती है । यह घोर अज्ञान का परिणाम है । सर्वप्रथम आत्मा के पृथक अस्तित्व को समझना आवश्यक है । अन्तरात्मा बनने के लिये आपको मानना चाहिये कि देह अलग है और मैं अलग हूं । देह के नाश में मेरा नाश नही है । देह की दुर्बलता मेरी दुर्बलता नही है । देह पुद्गलों का परिणमन है और इस कारण क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है, नाशवान है । मै अविनाशी हूं, अनन्त हूं, अक्षय हूं, अनन्त आनन्द और चैतन्य का आगार हूं ।

अन्तरात्म दशा प्राप्त होने पर जीव के विचार और व्यवहार में वड़ा अन्तर आ जाता है । यह नाशशील दुःख के वीज और आत्मा को मलिन वनाने वाले सांसारिक सुख की अभिलाषा नहीं करता, उसमें आसक्त नही होता । अन्तरात्मा-जीव का विवेक जब परिपक्व होता है

तो उसे सांसारिक सुख से अरुचि हो जाती है। तब आत्मा अपने ही स्वरूप में रमण करने लगती है। दिव्यज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और दिव्यशक्ति प्रकट होने पर जो आनन्द मिलता है, वही ज्ञानानन्द है। इस ज्ञानानन्द में मग्न रहने वाला आत्मा समस्त उपाधियों से विमुख हो जाता है।

उस अवस्था को इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं—

वह परम आत्मा अनन्त सुख से संपन्न, ज्ञानरूपी अमृत का स्रोत, अनन्तशक्ति से समन्वित है, उसमें किसी प्रकार का विकार नही है, उसके लिये किसी आधार की आवश्यकता नही है, वह समस्त पर पदार्थों के संसर्ग से रहित है और विशुद्ध चैतन्य स्वरूपी है।

आत्मा का समर्पण करने से आत्मा की उपलब्धि होती है, उसका स्वरूप अधिकाधिक निर्मल रूप से समझ में आने लगता है।

नवीनता और प्राचीनता का भाष्य

●

प्रचलित परिपाटियों में इधर-उधर से जो विकार आ जाते हैं, उनको हटाने और चेतना जागृत करने के

लिए मूल स्थिति के रक्षणपूर्वक जो भी विवेक सहित परिवर्तन लाये जाते हैं, उन्हें भी नवीनता की संज्ञा दी जा सकती है। इन अर्थों में नवीनता का यह अभिप्राय होना चाहिए कि जो परिवर्तन और एकरूपता को संतुलित रखती हुई मनुष्य की सही जिज्ञासावृत्ति को संतुष्ट करती है और उसे सत्य लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होने में जागृत रखती है। उसके अनुगामी जीवन के सही प्रगति मार्ग को निष्कंटक बनाते हैं।

जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनाने वाले हों, शुद्ध-संयमी जीवन की उपयोगिता के लिए समाज व व्यक्ति में जीवन का सन्देश फूंकने वाले हों वे बहुत वर्षों के बने हुए होने पर भी नवीन ही समझना चाहिए। किन्तु विवेक एवं आत्म-ज्योति को भुलाने वाले नवीनता के नाम पर विकारी भाव व स्वार्थ के पोषक, नैतिक भावहीन सुन्दर शब्दों में नवीन बने हुए कितने भी नियमोपनियम हों, वे प्राचीन शब्द से कहे जाने चाहिए। इन शब्दों में समय का मापदड ठीक नहीं हो सकता, किन्तु संयमीजीवन की उपयोगिता का मुख्य महत्त्व होता है।

इस नवीनता की स्फुरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिए ग्रहण करना चाहिए और नवीनता के अनुभूत रहस्य को दूसरों पर प्रगट करना चाहिए तभी नवीनता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता है।